

सम्मरथ



मई — जून 2006

नई दिल्ली

नाहि तो जनम नसाई

पिछले कुछ वर्षों से राष्ट्र, राष्ट्रियता, राष्ट्रवाद और राष्ट्र भक्ति जैसे अनेक शब्द अखबारों और टीवी चैनलों की सुर्खियों से रिस-रिसकर आम भारतीयों के दिमाग में एक परत की तरह जम गये हैं। इन शब्दों का अर्थ समझने या समझाने की न कोई ज़रूरत समझता है और न ही किसी को इसकी परवाह है। ऐसा समाज जो हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई — उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम — उर्दू, हिन्दी, बंगाली, पंजाबी, तमिल — अर्थात् धार्मिक आधार पर, क्षेत्रीय आधार पर, भाषाई आधार पर और इसके अतिरिक्त अनेकों आधारों पर बंटा हुआ है और इसे तरह-तरह की मान्यताएं भी मिली हुई हैं, वहां स्वाभाविक ही है कि राष्ट्र और राष्ट्रियता जैसे शब्द हमारे दिमाग में ठूंसे जाएंगे लेकिन उनकी व्याख्या करना स्वयं राष्ट्र के लिए ही खतरा बन जाएगा। ऐसे ही कुछ प्रश्नों को चुनौती देती हुई राही मासूम रज़ा की ये कविता प्रस्तुत है — राही मासूम रज़ा ने ये चुनौती स्वयं भी स्वीकार की है। उनका अधिकतर कथा और काव्य संसार देवनागरी लिपि में मौजूद है। उसमें उर्दू के रास्ते आए अरबी और फारसी के शब्द भी बड़ी तादाद में मिलते हैं। राही हिंदी और उर्दू में अंतर भी नहीं करते इसीलिए अकलीयत (अल्पसंख्यक), फ़र्द (व्यक्ति), शै (वस्तु) दामान-ए-साहिल (नदी के किनारे का फ़ैलाव) आदि शब्दों का हिंदी अर्थ समझने के लिए पाठकों के विवेक पर भरोसा करते हैं। ठीक उसी तरह जैसे सूर, कबीर, मीरा आदि की भाषा का अर्थ उर्दू पाठक ठीक तरह से समझें इसकी कामना करते हैं। संक्षेप में धार्मिक, जातिगत, भाषाई और क्षेत्रीय आधार पर समाज का बंटवारा करते हुए राष्ट्र का नारा देना हास्यास्पद लगता है। राष्ट्रियता और राष्ट्र प्रेम की भावना राष्ट्र की सीमा में रहने वाले व्यक्ति और समुदाय तय करते हैं न कि स्वयं सीमाएं। इसीलिए कवि प्रश्न करता है कि अपने वतन में हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई जब हर तरफ नज़र आ सकते हैं तो यही लोग एक मुक्कमल हिंदुस्तानी की तरह क्यों नहीं आ सकते ?

सबसे छोटी अकलीयत

डॉ. राही मासूम रज़ा

मैं इक फ़र्द हूँ अपने मुल्क की सबसे छोटी अकलीयत का
नागफनी के इक जंगल में, जैसे हरसिंगार की कोंपल
नक्क़ारों के इक सहरा में, जैसे एक अकेली छागल
प्यास के बन में,
नील गगन में जैसे इक छोटा-सा बादल

ताज-ओ-अजन्ता की बस्ती में
नटखट मक्खन चोर, हठीले की नगरी में
सूर, कबीर, मीरा, ग़ालिब, टैगोर के घर में
चिश्ती-से दीवानों की इस राहगुज़र में
चन्द्रगुप्त के सीने पर

अकबर के जिगर में
गंग-ओ-जमन की इस धरती पर
इस गुलशन में
जिस गुलशन में सारनाथ और काशी जैसे फूल खिले हैं
आगरा और दिल्ली जैसे छतनार दरख्तों के साये हैं
हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, और बलवाई
संघ बनाकर
लीगों का तूफान उठाकर
जलसे करके
फाके करके
जेल बसाकर
ढोंग रचाकर
मरने की कसमें खा-खाकर
दल के दल
जत्थों के जत्थे
अपने-अपने हक के लिए लड़ते रहते हैं
डटकर हंगामे करते हैं
लाठी, चाकू से गाली तक
सड़कों पर हर शै चलती है
इन्सानों के सिवा इन सड़कों पर हर शै चलती है
हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई
चोर, उचक्के
थाने वाले
डिप्टी साहब
एस.पी. साहब
पंडित जी, मौलाना साहब

यानी इन्सानों के सिवा इन सड़कों पर हर शै चलती है
उत्तर, दक्खिन, पूरब, पच्छिम
उर्दू, हिन्दी, बंगाली, पंजाबी, तामिल
अपनी ही मौजों के नाखुन से ज़ख्मी दामान-ए-साहिल
ख़ौफ़जद: राधा की पाइल

हैरों-हैरों देख रहा है नूरमहल की प्यार भरी नज़रों का घाइल
वारिस वहशत के जंगल में हीर के हाथ से ज़हर का
प्याला पी जाएगा
अब वो खुद से ज़हर का प्याला पी जाएगा
वह अनजानी नार-सोहनी
नफरत के इस तेज़ चनाब में डूब रही है
हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई बहुतेरे हैं
पर कोई मँहिवाल नहीं है
मैं इक फ़र्द हूँ अपने मुल्क की सबसे छोटी अक़लीयत का
लेकिन उसका नाम बड़ा है
हिन्दुस्तानी !
हिन्दुस्तानी अपने वतन की सबसे छोटी अक़लीयत है
इसका कोई संघ नहीं है
इसका कोई लीग नहीं है

अपने वतन में
हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई तो वाफ़िर हैं
लेकिन मैं ये सोच रहा हूँ
अपने मुल्क में हिन्दुस्तानी कितने होंगे !

आगरा
18.11.61

भाजपा और सांप्रदायिकता (एक और गोधरा की कोशिश)

डा. योगेश भटनागर

ये बात पूरी तरह साबित होने के बाद कि 2002 का गुजरात जनसंहार मोदी सरकार द्वारा प्रायोजित और भाजपा-एनडीए सरकार द्वारा पूरी तरह समर्थित था, मोदी सरकार ने एक बार फिर मई 2006 में वडोदरा में प्रायोजित सांप्रदायिक दंगा करवाया। इस दंगे से फिर एक बार साबित हो गया है कि भाजपा सरकार और गुजरात प्रशासन ने दंगा रोकने की कोई कोशिश नहीं की बल्कि अल्पसंख्यक समुदाय को डराने, धमकाने और बेइज्जत करने की साजिश रची। 400 साल पुरानी सूफी सन्त की दरगाह को ढहाने, हाथों हाथ सड़क बनाने और एक इन्सान को ज़िन्दा जलाने का काम प्रशासन और सरकार की निगरानी में पूरा हुआ।

सामाजिक कार्यकर्ता तीस्ता सीतलवाड़ का, जो बेस्ट बेकरी सहित गुजरात दंगों के पीड़ितों की कानूनी मदद कर रहीं हैं, कहना है कि वडोदरा के दंगों के पीछे विहिप और बजरंग दल का हाथ है। जब सूफी संत रशीदुद्दीन चिस्ती की मज़ार को ज़मीदोज़ किया जा रहा था तो विहिप और बजरंग दल के कार्यकर्ता नारे लगा रहे थे **‘मिनी बाबरी को एक धक्का और दो’, ‘अगर कारपोरेशन नहीं ढहायेगी तो दल ढहा देंगे’**। इस दरगाह पर दल की नज़र 1969 से थी। मौके पर नलिन भट्ट और योगेश पटेल भी मौजूद थे जिन पर 2002 के दंगों के दौरान मच्छीपीठ इलाके में पुलिस एफआइआर भी दर्ज है। प्रशासन, विहिप और बजरंग दल के कार्यकर्ताओं की उत्तेजनात्मक कार्रवाई की प्रतिक्रिया में पथराव हुआ। फिर पुलिस ने टारगेट कर गोलीबारी की। जिस तरह अहमदाबाद में 28 फरवरी, 2002 को वली दक्कनी की मज़ार को तोड़कर सड़क समतल बना दी गयी थी उसी तरह वडोदरा में 1 मई, 2006 को सूफी सन्त रशीदुद्दीन चिस्ती की मज़ार तोड़ने के बाद सड़क समतल बना दी गयी। प्रशासन के समर्थन की वजह से 2 मई को दंगाईयों ने बहार और किस्मत सोसायटी में रह रहे अल्पसंख्यकों को धमकाया और गुजरात रिफाईनरी में काम करने वाले एक युवक को ज़िंदा जलाया। और इस तरह एक बार फिर मोदी सरकार ने गुजरात जनसंहार की याद ताज़ा कर दी। पूरे गुजरात में नरेन्द्र मोदी की सरकार और पुलिस को लेकर अविश्वास और डर का माहौल है। सांप्रदायिक दंगों के दो ही दिन बाद मुखौटाधारी मोदी ने घायलों को हस्पताल में मिलना शुरू किया और दूसरी तरफ पी. सी. पाण्डे को जिसकी भूमिका अहमदाबाद जनसंहार में सभी जानते हैं, गुजरात का डीआइजी बना दिया। पाण्डे की इस पदोन्नति पर सुप्रीम कोर्ट ने राज्य और केंद्रीय सरकार से जवाब

माँगा है। मोदी और भी इसी तरह के सांप्रदायिक प्रशासकों को बढ़ोतरी दे रहे हैं। इससे प्रशासन का सांप्रदायिककरण हो रहा है।

वडोदरा में सांप्रदायिक दंगों के दौरान अल्पसंख्यक समुदाय का स्थानीय पुलिस, प्रशासन और अपने पड़ोसियों तक से भरोसा उठ गया है। जब दंगों के दौरान अल्पसंख्यकों ने पुलिस से सहायता माँगी तो उनसे कहा गया कि **‘मदद चाहिये तो पाकिस्तान जाओ’**। अल्पसंख्यकों को दंगाईयों के रहम पर छोड़ दिया। पास से गुज़रती पुलिस वैन भी नहीं रुकी और मदद देने से इनकार किया। अहमदाबाद की पूर्व महापौर अनीसा मिर्जा का कहना कि पी. सी. पाण्डे के पुलिस महानिदेशक बनाये जाते ही गुजरात में सांप्रदायिकता का दौर फिर शुरू हो गया है, अपने आप में कई सच्चाईयाँ उजागर करता है। रिटायर्ड डीएसपी एम. आई. पठान ने कहा कि उन्होंने इस महकमे की 35 साल सेवा की है पर इस तरह पुलिस को व्यवहार करते नहीं देखा।

कहने को तो कारपोरेशन कह रही है कि उसने हिंदू मंदिर भी ढहाये हैं पर जिनको गिराया गया है वो ज़्यादातर ‘डेरे’ थे या व्यक्तिगत मंदिर थे। आज भी करीब 20 मंदिर हैं जो पुलिस स्टेशनों के अंदर या म्यूनिसिपल सीमा में हैं और साफतौर पर सड़क पर रुकावट हैं पर उन्हें नहीं ढहाया गया। जबकि दरगाह सड़क पर कोई रुकावट नहीं थी और पटरी के साथ लगी थी। सांप्रदायिक हिंसा और भड़क गयी जब रफीक नामक युवक को उसकी ही कार में ज़िंदा जला दिया गया। एक रिटायर्ड पुलिस अफसर ने फायरटेन्डर से कार में लगी आग बुझाने की विनती की लेकिन ड्राइवर ने आग बुझाने से मना कर दिया और आगे चला गया। पुलिस ने गोलियाँ बहुत पास से चलाई और उनका उद्देश्य मुस्लिम युवकों को मारना था।

केंद्र सरकार ने हालात को जल्दी काबू में लाने के लिये सेना तैनात करने के साथ अतिरिक्त अर्द्धसैनिक बल वडोदरा भेजे। इस हिंसा में 10 आदमियों को मार दिया गया और 50 से ज़्यादा घायल हुए।

मोदी ने सोचा था कि 2002 की तरह सांप्रदायिक दंगे और जनसंहार करवाकर 2007 का चुनाव समय से पहले कराकर जीत लेंगे पर जब मोदी की समझ में आया कि केंद्रीय सरकार एनडीए की नहीं यूपीए की है तो उसने अपनी योजना बदल दी।

आखिर गुजरात के मुख्यमंत्री, सरकार और प्रशासन इस 400 साल पुरानी मज़ार को ढहा कर क्या संदेश देना

चाहते थे ? धर्मस्थल (विशेष प्रावधान) एक्ट 1991 के मुताबिक ऐसे किसी धर्मस्थल का स्वरूप नहीं बदला जा सकता जो देश की आज़ादी के वक्त अस्तित्व में था। भाजपा शासित कारपोरेशन का कहना है कि जहां तक धर्मस्थलों को ढहाना है उसने हिंदू या मुसलमानों के धर्मस्थलों में कोई भेदभाव नहीं किया है। जो भी शहर की खूबसूरतीकरण में आड़े आ रहे थे उन्हें ढहा दिया गया। जब रशीदऊद्दीन की दरगाह को ढहाने का नोटिस भेजा तो उसके फौरन बाद मुस्लिम समुदाय के लोग दरगाह की चौड़ाई सात फीट कम करने के लिये राज़ी हो गये थे लेकिन अभी बातचीत चल ही रही थी कि कारपोरेशन ने दरगाह ढहा दी और इस तरह दंगों की शुरुआत हुई। इसी दौरान गुजरात हाई कोर्ट ने खूबसूरतीकरण की प्रक्रिया को न रोके जाने के निर्देश दिये जिस पर बाद में सुप्रीम कोर्ट ने स्टे दे दिया।

एक बात साफ है कि 1947 से पहले की दरगाह को गिराने का मतलब विहिप और बजरंग दल का अपनी शक्ति प्रदर्शन ही नहीं था बल्कि दरगाह का गिराना पूर्व नियोजित भी था। विहिप और बजरंग दल का इस दरगाह को ढहाने के लिये कारपोरेशन पर जोर डालने का मतलब है मुसलमानों को इशारा देना। 2002 के बाद ज़्यादातर मुसलमानों ने अपने व्यापार की इन्श्योरेंस करा ली है इसलिये विहिप और बजरंग दल को अब उनकी दुकानें वगैरह जलाने में कोई रुचि नहीं है। पर छोटे और फुटकर दुकानदारों की दुकानें आज भी जलाई गयीं। आज गुजरात का मुसलमान गुस्से में है और अपने को असहाय पाता है।

वडोदरा में दंगों के बाद एक निष्कर्ष जो साफ निकलकर आता है वो ये कि 2002 के बाद पुलिस प्रशासन और नागरिक प्रशासन ने धीरे-धीरे अपने आप को हिंदुत्ववादी राजनीति का एक हिस्सा बना दिया है। ये कहना कि ये सब भी संघ परिवार में शामिल हो गये हैं कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस बार राज्य प्रशासन ने खुद दरगाह को ढहाया। पहले दंगाई एक दूसरे को मारते थे पर इस बार पुलिस ने गोली चलाकर मारा और इस कत्ल की कोई सज़ा भी नहीं हुई। वडोदरा की हिंसा में हमें साफ नज़र आ रहा है कि किस तरह राज्य और प्रशासन नफरत फैलाने की राजनीति कर रहे हैं। ये बहुत खतरनाक स्थिति है। अगर इसको नहीं संभाला गया तो देश की धर्मनिरपेक्षता खतरे में आ जायेगी।

उधर राष्ट्रीय महिला आयोग ने चार साल पहले के दंगों में प्रभावित हुई महिलाओं का सही ढंग से पुनर्वास और दोषी लोगों के खिलाफ कार्रवाई नहीं करने के लिये मोदी सरकार की कड़ी आलोचना की है। आयोग ने तीन महीने के अंदर पुनर्वास का काम पूरा करने की हिदायत दी है।

ये बात गौरतलब है कि संघ परिवार और भाजपा शासित सरकारों पर कड़ा प्रहार करते हुए एक अमेरिकी संसद से जुड़े आयोग ने कहा है कि भारत सरकार को गुजरात में 2002 में दंगा कराने वालों को सजा देनी चाहिये

ताकि ये साबित हो सके कि देश धार्मिक सहिष्णुता की अपनी परम्परा पर कायम है।

अमेरिकी कांग्रेस द्वारा संस्तुत इस आयोग ने कहा है कि भारत में संप्रग सरकार के सत्ता संभालने के बाद से धार्मिक आज़ादी के मामले में कुछ सकारात्मक घटनाक्रम सामने आए हैं। फिर भी वहां धार्मिक आज़ादी को लेकर चिंता बरकरार है। गिरिजाघरों और संप्रदाय विशेष के लोगों पर अतिवादी हिन्दू संगठनों द्वारा हमले की वारदात होती रहती है। इस सिलसिले में महाराष्ट्र में एक कैथोलिक स्कूल पर हमले और उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश में इसी तरह की कुछ अन्य वारदातों का हवाला दिया गया है। **आयोग ने अपनी सालाना रिपोर्ट में बड़े साफ शब्दों में कहा कि राजस्थान, मध्य प्रदेश, गुजरात, छत्तीसगढ़ और झारखंड जैसे भाजपा शासित राज्यों में अल्पसंख्यकों के खिलाफ हिंसा की घटनाएं अकसर देखने में आई हैं।** आयोग ने कहा कि अमेरिका सरकार को भारत पर इस बात के लिए दबाव डालना चाहिए कि वह धार्मिक अल्पसंख्यकों के खिलाफ हिंसक हमलों पर लगाम कसने के लिए और कारगर प्रयास करें। आयोग ने सुझाव दिया कि भारत सरकार को उन राज्य सरकारों को जवाबदेह बनाना चाहिए जिनके यहां इस तरह की हिंसा और अन्य गैर-कानूनी गतिविधियां होती हैं। रिपोर्ट में कहा गया कि 1990 के दशक के उत्तरार्ध में विशेष रूप से मुसलमानों और ईसाईयों के खिलाफ भारत भर में हिंसा की घटनाओं में बढ़ोतरी देखने में आई। यह वह समय था जब देश में संघ परिवार से जुड़े संगठनों का राजनैतिक प्रभाव बढ़ा था। **आयोग ने कहा कि 1998 में संघ परिवार की राजनीतिक शाखा भाजपा के सत्ता में आने से ऐसे माहौल को फलने-फूलने में मदद मिली जिसमें धार्मिक अल्पसंख्यकों के खिलाफ हिंसा को सख्ती से दंडित नहीं किया गया।** ये है असली तस्वीर भाजपा-आरएसएस और संघ परिवार की – अल्पसंख्यक विरोधी, नफरत फैलाने, डराने और धमकाने की राजनीति। ये रिपोर्ट ये भी साबित करती है कि भाजपा एनडीए के राज में समाज के सांप्रदायिककरण को सरकारी तौर पर समर्थन मिला और इसीलिये धार्मिक अल्पसंख्यकों के खिलाफ हिंसा को दंडित नहीं किया गया।

एक बात तय नज़र आती है जैसे-जैसे चुनाव नज़दीक आते जायेंगे गुजरात में हिंदुत्ववादी ताकतें और संघ परिवार वक्त बेवक्त सांप्रदायिक दंगे प्रायोजित रूप से कराते रहेंगे और अल्पसंख्यक डर और खौफ में अपनी ज़िन्दगी बिताते रहेंगे। **राज्य के अधिकारों और स्वायत्तता के नाम पर केंद्रीय सरकार को सांप्रदायिक ताकतों को संरक्षण नहीं देना चाहिये और संवैधानिक कानूनों का इस्तेमाल करना चाहिये और ऐसी सरकारों को बर्खास्त कर देना चाहिये।**

भाजपा = आरएसएस

आइएसडी

जवाहरलाल नेहरू ने जनसंघ को आरएसएस की नाज़ायज़ औलाद कहा था (दि हिन्दु जनवरी 6, 1952)। रणनीतिगत कारणों से आरएसएस ने इस औलाद को जनता पार्टी को दत्तक दे दिया था पर बाद में आरएसएस ने फिर इस औलाद को भाजपा के रूप में जनता पार्टी से वापिस ले लिया। इसका तब उद्देश्य जयप्रकाश नारायण की विरासत को हथियाना था। लेकिन आरएसएस ने कुछ ही समय बाद इस पर अपना नियंत्रण कस लिया। नयी शब्दावली ईजाद की गयी जिनके अलग-अलग अर्थ होते थे। मिसाल के तौर पर पर्सनॉलिटी कल्ट का मतलब था कि भाजपा का कोई भी नेता (वाजपेयी या आडवाणी) आरएसएस के आदेशों को नज़रअंदाज़ नहीं कर सकता। जैसे ही आडवाणी ने इसकी कोशिश की उन्हें भाजपा का अध्यक्ष पद खोना पड़ा। वाजपेयी जैसे ही उम्र के उस पड़ाव में हैं जहां आरएसएस को उनकी कोई परवाह नहीं है।

पिछले एक साल में एक नया ट्रेंड सामने आया है। भाजपा को अनुशासित करने के लिये आरएसएस विहिप की तारीफ करने में लगा है। अप्रैल 2, 2005 को आरएसएस के प्रमुख के. एस. सुदर्शन ने कहा था कि गोलवालकर गुरु जी की सबसे बड़ी उपलब्धि थी कि उन्होंने विहिप को 'हिन्दू जागरण' करने का आदेश दिया था जबकि भाजपा को राजनीति करने का। सुदर्शन ने कहा कि वाजपेयी और स्वर्गीय सुंदर सिंह भंडारी पहले प्रचारक थे जिन्हें जनसंघ की मदद करने के लिये भेजा गया था। (दि हिन्दू, अप्रैल 29, 2005)

आरएसएस ने मई 2004 के चुनावी नतीजों को अलग तरीके से समझा। जैसे बिल्कुल नहीं जैसे आडवाणी और उनके साथियों ने समझा। स्व. प्रमोद महाजन ने भाजपा की हार के तीन कारण बताये थे – राममंदिर निर्माण की प्रक्रिया में सुस्ती, गुजरात जनसंहार और भाजपा की आंतरिक हालत। (इंडिया टूडे, मई 1, 2005)। आडवाणी के मुताबिक मध्य मार्ग को छोड़ना भाजपा की हार का कारण था। पाकिस्तान पहुंचते ही उनका बयान कि मेरी छवि और मेरा व्यक्तित्व मेल नहीं खाते। उनका बयान कि "बाबरी मस्जिद का ढहाना मेरी ज़िन्दगी का सबसे उदास दिन था" और रथयात्रा के दौरान कंधार विमान अपहरण का मुद्दा उठाना और ये कहना कि हज़ारों डॉलर देने और आतंकवादियों की अदला-बदली में वो दोषी नहीं हैं। ये तीनों बयान अपनी छवि को उदारवादी बनाने की कोशिश और आरएसएस

से मुक्ति के परिप्रेक्ष्य में समझने चाहियें। साथ में ये भी याद रखना चाहिये कि आरएसएस बाबरी मस्जिद के ढहने को एक बड़ी उपलब्धि मानता है और उसके ही आदेश पर आडवाणी को अध्यक्ष पद छोड़ना पड़ा और राजनाथ सिंह को नियुक्त किया गया।

सच तो यह है कि आडवाणी को इन बयानों के पीछे न तो किसी तरह का पछतावा था, ना ही राजनीतिगत सुधार, असली मकसद था अपनी छवि बदलने का। कश्मीर के मुद्दे पर भी पाकिस्तान में आडवाणी के हर बयान के पीछे एक ही पैगाम था – वो बदल गये हैं वो अब अखण्ड भारत के समर्थक नहीं रहे। इस छवि को बनाने में जिन्ना के बारे में बयान सबसे बड़ी पराकाष्ठा थी। ये बात याद रखनी चाहिये कि पिछले पचास साल के राजनैतिक जीवन में आडवाणी ने कभी भी जिन्ना की तारीफ या जिन्ना के बारे में दूर-दूर तक कोई बयान नहीं दिया। दूसरी बात जिन्ना के बारे में बयान पाकिस्तान जाने से पहले तैयार किया गया था। इसका मकसद था भारत में अपनी छवि सुधारने का। इस मकसद में आडवाणी पूरी तरह से नाकाम रहे। विहिप के अध्यक्ष अशोक सिंघल ने साफ-साफ कह दिया कि वाजपेयीयों और आडवाणीयों जैसों का वक्त अब निकल गया है। अब संघ परिवार भाजपा के लिये नयी दिशा तैयार करेगा।

भारत आते ही आडवाणी ने अध्यक्ष पद से इस्तीफा दे दिया। दो दिन बाद उन्होंने इस्तीफा वापिस ले लिया। अगले दिन भाजपा की संसदीय बोर्ड ने आडवाणी की पाकिस्तान यात्रा का स्वागत किया पर जिन्ना से जुड़े बयान को कोई समर्थन नहीं दिया।

स्व. प्रमोद महाजन ने कहा कि हालांकि भाजपा आरएसएस की विचाराधारा से सहमति रखती है पर संगठनात्मक मामलों में पार्टी स्वतंत्र है। लेकिन सच कुछ और था। प्रमोद महाजन के अपने शब्दों में : 'पिछले एक दशक में सरसंघचालक का पार्टी के मामलों में दखल बढ़ा है। अब सरसंघचालक ही भाजपा के राज्य और ज़िले स्तर पर अध्यक्ष नियुक्त करते हैं और अपनों को ही चुनाव लड़ने का टिकट देते हैं। मतलब महाजन यह मान रहे थे कि आरएसएस भाजपा की माँ है इसलिये माँ ने बच्चे को अपने पैरों पर चलने देना चाहिये। इसे बच्चे को सार्वजनिक तौर पर डाँटना और धमकाना नहीं चाहिये। आरएसएस का गैर राजनीतिकरण होना चाहिये।'

भाजपा को मानो चेतावनी देने के लिये सुदर्शन ने जून 19, 2005 को इंदिरा गांधी की इच्छाशक्ति और साहस की तारीफ की। 9 जुलाई 2005 को आरएसएस ने भाजपा और विहिप के नेताओं (आडवाणी और तोगड़िया) को संघ परिवार का अनुशासन तोड़ने के लिये फटकारा और ये भी कहा कि आरएसएस के उच्चासीन पदाधिकारी संबंधित नेताओं से बात करेंगे और संघ के मतों से उन्हें अवगत करायेंगे। जार्ज फर्नांडिस और अटल बिहारी वाजपेयी को भी आडवाणी की पैरवी के लिये आरएसएस ने फटकारा। आरएसएस के एम. जी. वैद्य ने भाजपा के नेतृत्व को लेकर (आडवाणी को अध्यक्ष के रूप में लेकर) कहा कि यह भाजपा को तय करना है कि क्या वो धूमिल छवि के नेतृत्व में काम करना चाहती है ? वैद्य ने आरएसएस भाजपा के रिश्तों को एक बार फिर परिभाषित करते हुए कहा कि **उन दोनों में (भाजपा और आरएसएस में) उन स्वयंसेवकों के माध्यम से रिश्ता है जो भाजपा में काम करते हैं। भाजपा के साथ हमारा रिश्ता संवैधानिक नहीं है। हम दोनों में करार जैसी कोई चीज़ नहीं है। आरएसएस के समर्थन के बिना भाजपा और उसके नेता कहीं के नहीं रहेंगे। स्वयंसेवक जो भाजपा में गये हैं या भेजे गये हैं वे आरएसएस की विचारधारा को आगे बढ़ाते हैं।** साफ ज़ाहिर है भाजपा आरएसएस पर पूरी तरह निर्भर है। वैद्य ने कहा कि भाजपा संघ का जीवन और साँसे नहीं है। हमारी जिन्दगी भाजपा पर निर्भर नहीं है। अक्टूबर 23, 2005 की चित्रकूट की बैठक में आरएसएस ने कहा कि ये देखना हमारा (आरएसएस) काम है कि भाजपा सही रास्ते पर जा रही है या नहीं। नवम्बर 5, 2005 को सुदर्शन ने कहा कि वाजपेयी और आडवाणी दोनों व्यक्तिगत तौर पर बहुत कद्दावर हो गये हैं इसलिये उन्होंने आरएसएस के सामूहिक नेतृत्व प्रणाली को छोड़ दिया है। दिसम्बर 24, 2005 के आर्गनाईज़र में कहा कि आरएसएस और दूसरी पार्टियों को समर्थन देने में नहीं हिचकेगी।

आडवाणी ने राष्ट्रीय कार्यकारिणी में कहा कि भाजपा ने संस्कृति और राष्ट्रवाद की विचारधारा आरएसएस से ग्रहण की है और भाजपा और आरएसएस दोनों अविभाज्य हैं। उन्होंने आगे कहा कि मुझे अफसोस है कि मैं अपनी भावनाएं संघ को ठीक से नहीं समझा पाया।

राजनाथ सिंह ने अपना कार्यकाल ये कहकर शुरू किया कि हम सब संघ के कार्यकर्ता हैं। आखिर राजनाथ सिंह को आरएसएस ने जो चुना था। राजनाथ की मूल टीम के सदस्य आरएसएस के नरेन्द्र मोदी और बजरंग दल के विनय कटियार थे। 35 आफिस बेयरअर्स में से 11 आरएसएस से जुड़े हुए थे।

मार्च 7, 2006 के वाराणसी में हुये आतंकवादी धमाकों के फौरन बाद पार्टी से बिना पूछे आडवाणी ने रथयात्रा का एकतरफा ऐलान कर दिया। राजनाथ सिंह ने उसे स्वीकारा

पर विहिप ने उसकी जोरदार आलोचना की। सुदर्शन ने आडवाणी को इस ऐलान को लेकर फटकारा। साथ ही 'आर्गनाईज़र' ने कहा कि इस यात्रा का आरएसएस का विरोध करने का सवाल ही नहीं उठता।

सोचने की बात है आडवाणी इतनी फटकार के बाद भी, ये मानने को तैयार नहीं थे कि वो अब भाजपा के नेता नहीं हैं। 2 अप्रैल, 2006 को उन्होंने कहा कि वो भाजपा की छवि बदलना चाहते हैं। उन्होंने राष्ट्रीय एकात्मकता यात्रा का नाम बदलकर 'भारत सुरक्षा यात्रा' रख दिया गया। रथयात्रा के दौरान मुस्लिम तुष्टीकरण, राम मंदिर निर्माण और समान नागरिक संहिता जैसे सांप्रदायिक मुद्दे उठाये गये। प्रमोद महाजन की अचानक हत्या के बाद रथयात्रा रोक दी गयी। सवाल उठता है कि क्या कोई राजनीतिक पार्टी किसी वरिष्ठ नेता की अचानक मौत के बाद अपना प्रोग्राम रोक देती है ?

भाजपा को सत्ता से निकले दो साल ही हुए हैं। इन दो सालों में आरएसएस ने भाजपा पर पहले से भी कहीं ज़्यादा पकड़ बना ली है। इसका ताज़ा सबूत ये है : हाल ही मई के महीने में आरएसएस के दबाव में भाजपा ने पार्टी संविधान में महत्वपूर्ण संशोधन करते हुए संगठन महासचिव को न हटाने का प्रावधान कर दिया है। संशोधन में ये व्यवस्था भी की गयी है कि संगठन महासचिव अध्यक्ष के बाद सबसे ज़्यादा शक्तिशाली होगा। राजनीति के स्तर पर ताज़ा उदाहरण है : आरएसएस ने भाजपा शासित राज्यों को अपना एजेंडा थमा दिया है जिसको वे सभी लागू कर रहे हैं। इसमें शिक्षा का भगवाकरण विशेष स्थान रखता है। इस बात से एक बात साफ हो जाती है कि मीडिया और प्रेस का जो एक घटक इस मिथक को गढ़ रहा था कि वक्त के साथ-साथ भाजपा का हिंदुत्ववाद कमज़ोर हो जायेगा, वो अपनी विचारधारा में उदारता लायेगी और एक दक्षिणपंथी धर्मनिरपेक्ष पार्टी में तब्दील हो जायेगी, वो पूरी तरह गलत साबित हुआ। **ऊपर लिखे से साफ साबित हो जाता है कि आज भी आरएसएस ही भाजपा की राजनीतिक दिशा तय कर रहा है और भाजपा सांप्रदायिक, फासिस्ट, अल्पसंख्यक विरोधी और संविधान में विश्वास न रखने वाली ही पार्टी है और बनी रहेगी।** भाजपा में बिखराव और अलगाव भी आ रहा है। ये कई मायनों में शुभ संकेत है। विहिप, भाजपा (रा) को हिंदुत्ववादी पार्टी नहीं मानती। भाजपा (उ) अपने आपको असली भाजपा कहती है। और आरएसएस सोनिया गांधी, इंदिरा गांधी और कांग्रेस की तारीफ कर रहा है। **ऐसे में धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक और वामपंथी ताकतों की ज़िम्मेदारी है कि वो देश को इन सांप्रदायिक ताकतों के खतरे से रोज़ अवगत ही न कराते रहें पर समाज के धर्मनिरपेक्षीकरण के लिये जनजागरण आंदोलन चलायें।**

संघ परिवारी संगठन और नान्देड बम विस्फोट हिन्दू आतंकवादियों का जन्म ?

सुभाष गाताडे

यह कहना मुश्किल है कि राहुल महाजन की अदालती पेशी या प्रमोद महाजन की धिनौनी विरासत की आकंट चर्चाओं में डूबी जनता के लिए 11 जून की यह ख़बर पता चली होगी या नहीं कि किस तरह महाराष्ट्र में सक्रिय अतिवादी हिन्दू संगठन की कार्रवाइयों के बारे में राज्य की गुप्तचर सेवा ने एक क्लासिफाइड रिपोर्ट महाराष्ट्र सरकार को पेश की है। (DNA-Hardcore Hindu body behind Nanded blast, Dharmendra Tiwari. Sunday, June 11, 2006 20:17 IST) इस रिपोर्ट में महाराष्ट्र में पहली दफा सामने आये आतंकवादी हिन्दू संगठन की कारगुज़ारियों पर रोशनी डाली गयी है और उस पर नकेल डालने के लिए विशेष कदम उठाने की सलाह दी है।

यू तो इन हिन्दू अतिवादी संगठनों की बमगोलों एवम बन्दूकों की कार्रवाइयों के बारे में सरकार को अपने विश्वस्त सूत्रों से पहले से ही सूचनायें मिल रही थीं, यहां तक कि विगत दो-तीन साल में नान्देड तथा उसके इर्दगिर्द के ज़िलों – औरंगाबाद, परभणी – आदि स्थानों पर हुए बम विस्फोटों में उनके हाथ होने के सूत्र मिल रहे थे, लेकिन यह पहली दफा हुआ कि किसी बड़ी हिंसक कार्रवाई को अंजाम देने के पहले ही वह पुलिस की पकड़ में आये। छह अप्रैल को महाराष्ट्र के चर्चित शहर नान्देड में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के पुराने कार्यकर्ता लक्ष्मण राजकोंडवार के घर हुई बम विस्फोट की घटना से सभी राज एक-एक कर खुलते गये। सिंचाई विभाग का यह रिटायर्ड इंजीनियर राजकोंडवार खुद उन दिनों किसी धार्मिक यात्रा पर गया हुआ था।

उस रात सिंचाई विभाग कर्मचारियों की कालोनी पाटबन्धारे नगर में रिटायर्ड इंजीनियर राजकोंडवार के घर में हुए रहस्यमय बम विस्फोटों में दो लोगों की नरेश राजकोंडवार (रिटायर्ड इंजीनियर के पुत्र) और – हिमांशु पानसे की ठौर मौत हुई थी और बाकी तीन – योगेश देशपाण्डे, मारुति वाघ और गुरुराज तुपत्तेवार – (या चार) गम्भीर रूप से घायल हुए थे। घायल हुए व्यक्तियों ने होश में आने पर पुलिस को बताया था कि उनके साथ एक चौथा व्यक्ति राहुल भी था, जो तुरन्त वहां से भाग निकला था, जिसे पुलिस ने बाद में हिरासत में लिया। पुलिस के मुताबिक यह सभी लोग संघ परिवार के आनुशंगिक संगठन बजरंग दल के पुराने कार्यकर्ता थे, जिनमें से कुछ उसके पदाधिकारी भी रह चुके थे, और बजरंग दल की बैठकों में जाया करते थे। इस मामले की शुरुआती जांच स्थानीय पुलिस ने की और बाद में इस मामले को आतंकवाद विरोधी दस्ते (एण्टी टेरररिज्म स्क्वाड) को सौंपा गया।

जानने योग्य है कि महाराष्ट्र में जिहादी आतंकवादी

संगठनों के समानान्तर अतिवादी हिन्दू संगठनों के बढ़ते खतरे के बारे में जनाब आर आर पाटील ने, जो महाराष्ट्र के उपमुख्यमंत्री हैं तथा गृह विभाग सम्भालते हैं, अपने प्रेस सम्मेलन में लोगों को बताया था। नागपुर स्थित संघ कार्यालय पर हुए आतंकी हमले के बाद उन्होंने यह जानकारी दी थी। पीटीआई द्वारा जारी समाचार के मुताबिक :

....उपमुख्यमंत्री ने यह भी बताया कि पुलिस ने कुछ महीने पहले हुए नान्देड बम विस्फोटों के बारे में जो सुराग हासिल किये हैं वे इसी साल के शुरुआत में हुए परभणी बम विस्फोटों से जुड़ते हैं। पाटील का कहना था इस सम्भावना को खारिज नहीं किया जा सकता कि दोनों विस्फोटों के पीछे हिन्दू अतिवादी संगठनों का हाथ हो। (DNA, PTI Thursday, June 01, 2006 17:35 IST)

अगर मराठी अख़बार 'लोकमत' (24 मई 2006) की औरंगाबाद के हवाले से दी गयी ख़बर पर नज़र डालें तो यह स्पष्ट होता है कि मंत्री महोदय अपनी बातों के बारे में गंभीर थे। रिपोर्ट के मुताबिक

'पुलिस कमिश्नर उद्धव काम्बले ने मीडिया को बताया कि बजरंग दल कार्यकर्ताओं द्वारा सम्पन्न नान्देड बम विस्फोट और औरंगाबाद में वर्ष 2001 और 2002 में हुए बम विस्फोटों के अन्तर्सम्बन्ध दिखाई देता है।

.....18 मई 2001 को औरंगाबाद के गणेश मन्दिर के पास एक बम विस्फोट हुआ था। जब इस केस की तहकीकात चल रही थी तब 17 नवम्बर 2002 को विश्व हिन्दू परिषद के निराला बाज़ार स्थित कार्यालय के पास एक बम विस्फोट हुआ, उसके बाद खडकेश्वर के पास बने महादेव मन्दिर में एक बम विस्फोट हुआ। निराला बाज़ार और खडकेश्वर बम विस्फोटों में पाइप बमों का प्रयोग किया गया था। यह बात रेखांकित की जानी चाहिये कि एक महीना पहले सामने आये नान्देड बम विस्फोटों में भी पाइप बमों का प्रयोग किया गया था। यह बात भी सामने आयी थी कि बजरंग दल के कार्यकर्ता बम बना रहे थे।

नान्देड बम विस्फोट और औरंगाबाद में हुए दो बम विस्फोटों की समानताओं को देखते हुए इनकी जांच चल रही है।...(मराठी से अनूदित- लेखक)

अगर नान्देड बम विस्फोट के प्रसंग पर विधिवत नज़र दौड़ायी जाये तो पता चलता है कि हिन्दुत्व ब्रिगेड के कारिन्दों ने किस

तरह की आपराधिक साज़िश रची थी जो सफल नहीं हो सकी। गौरतलब है कि पूर्व उप प्रधानमंत्री आडवाणी की 'भारत सुरक्षा यात्रा' के महाराष्ट्र आगमन के ऐन मौके पर, जिसने काफ़ी पहले से ही लोगों के मन में इसके पहले की सोमनाथ से अयोध्या की रथयात्रा की रक्तरंजित यादें तेज़ की थीं, इस साज़िश का खुलासा हुआ था। समस्या कई कारणों से इसलिए बढ़ गयी थी कि वह अप्रैल का महीना था जिसमें कई सारे त्यौहार एक साथ उपस्थित थे : मसलन महावीर जयंती, बाबासाहब अम्बेडकर जन्मदिवस और हनुमान जयंती। इसके अलावा विस्फोट के पहले चन्द दिनों से शहर का माहौल भी तनावपूर्ण था। किसी सिख युवती के किसी मुस्लिम युवक के साथ चले विवाह प्रसंग और उसके बाद घर से पलायन ने दोनों समुदायों को आमने सामने ला खड़ा किया था। पुलिस ने जब बाद में बम विस्फोट में मारे गये हिमांशु के घर पर छापा मारा तब वहां उन्हें इलाके में आमतौर पर मुसलमानों द्वारा पहने जाने वाले पहनावे, टोपियां, अलग-अलग आकारों की दाढ़ी भी मिली। आसपास के जिलों में बनी मस्जिदों के नक्शे भी वहां से बरामद हुए थे। कोई साधारण व्यक्ति भी बता सकता है कि पहले से साम्प्रदायिक तौर पर संवेदनशील कहे गये नांदेड और आसपास के इलाके में दंगों के आयोजन की योजना थी।

कोलकाता से निकलने वाले दैनिक 'द टेलिग्राफ' ने (10 अप्रैल 2006) परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए अपने रिपोर्टाज '**बजरंग ब्लोज़ अपआन आडवाणी**' में लिखा था :

'पुलिस ने इस बात की पुष्टि की है कि बजरंग दल के कार्यकर्ता पिछले सप्ताह महाराष्ट्र में हुए बम विस्फोट में शामिल थे जिसमें दो लोगों की मौत हुई। यह घटना लालकृष्ण आडवाणी के लिए परेशानी का सबब बन सकती है जिनकी यात्रा, जिसे 'भारत सुरक्षा यात्रा' कहा गया है, आज राज्य में पहुंची क्योंकि बजरंग दल को संघ परिवार का हिस्सा माना जाता है।'

इस घटना की चर्चा करते हुए बम्बई से निकलने वाले अंग्रेज़ी दैनिक '**मिड डे**' (9 अप्रैल 2006) ने स्पष्ट किया था कि जांच अधिकारी इस बात को लेकर स्पष्ट था कि मारे गये दो लोग हिमांशु पानसे और नरेश राजकोण्डवार (मकान मालिक का बेटा) 'समय समय पर बजरंग दल के पदाधिकारी थे और उसकी बैठकों में शामिल होते थे।'

रिपोर्ट के मुताबिक :

'गौरतलब है कि इसके अलावा पुलिस ने उपरोक्त स्थान से एक और बम बरामद किया है और उसे बेकार कर दिया है। बुधवार की सुबह भाग्यनगर पुलिस स्टेशन के अन्तर्गत आने वाले पाटबन्धारे नगर में सिंचाई विभाग के एक सेवानिवृत्त अधिकारी के घर यह विस्फोट हुआ था'

अगर हम नांदेड की सामाजिक संरचना पर गौर करें तो पता चलता है कि वहां हिन्दू (सात लाख), मुस्लिम (दो लाख)

और सिख (1 लाख) सभी रहते हैं और विभिन्न कारणों से यह शहर साम्प्रदायिक तौर पर संवेदनशील माना जाता है।

अगर प्रस्तुत यात्रा के पहले तमाम गैरभाजपा दलों द्वारा इस यात्रा के प्रभावों को लेकर प्रगट की गयी चिन्ताओं को देखें तो नांदेड की घटनाओं का महत्व समझ में आ सकेगा। इन सभी दलों ने एक सुर से मांग की थी कि यह यात्रा साम्प्रदायिक तनावों को बढ़ा सकती है, तनावों की नयी जमीन तैयार कर सकती है। इसे महज़ इतेफ़ाक़ नहीं कहा जा सकता कि यात्रा के शुरू होने के बाद अप्रैल माह में खण्डवा (मध्यप्रदेश), पाली (राजस्थान), भागलपुर (बिहार) आदि स्थानों पर साम्प्रदायिक दंगे हुए हैं। रांची (झारखण्ड), वाराणसी (उत्तर प्रदेश) में भी तनाव की स्थिति बनती दिख रही थी लेकिन सामाजिक संगठनों के हस्तक्षेप एवम पुलिस की सूझबूझ से मामले को समय रहते ही शान्त किया जा सका।

निश्चित ही नांदेड में सामने आये बम विस्फोट के तथ्य एक साज़िश की ओर इशारा करते हैं, जिसके तहत एक पुराने हिन्दुत्ववादी कार्यकर्ता के घर पर बम बनाये जा रहे थे। आखिर वह साज़िश क्या थी ? क्या उसका ताल्लुक महज़ नांदेड तक सीमित था ?

हिन्दुत्व ब्रिगेड के ढांचे से परिचित लोग बता सकते हैं कि वह किस तरह ऊंच-नीच अनुक्रम/श्रेणीबद्धता/हाइरआर्की पर टिका रहता है और जब तक हिन्दुत्व ब्रिगेड के सुप्रीमो हरी झण्डी नहीं देते तब तक किसी भी काम को अंजाम नहीं दिया जा सकता। आखिर यह जानने की ज़रूरत है कि अगर बजरंग दल के कार्यकर्ता बम बना रहे थे, तो किसके इशारे पर बना रहे थे, योजना क्या थी ? लोगों को याद हो कि नांदेड ज़िला महाराष्ट्र के जिस मराठवाड़ा क्षेत्र में स्थित है, वहां पर शिवसेना से लेकर संघ परिवार की अन्य जमातों की अच्छी खासी पकड़ है। कुछ साल पहले इसी इलाके के परभणी तथा अन्य स्थानों पर मस्जिदों के आसपास बम विस्फोट हुए थे, जिसमें न केवल कई निरपराध मारे गये थे बल्कि इसके बाद पूरे इलाके में साम्प्रदायिक तनाव भी फैला था। निश्चित ही राज्य सरकार को चाहिये कि अपनी जांच का दायरा महज़ उपरोक्त घटना विशेष तक सीमित न रखे बल्कि उसकी गहराई में जाये।

इसे गनीमत ही समझा जाना चाहिए कि आडवाणी की यात्रा के महाराष्ट्र पहुंचने के ऐन मौके पर बम बनाने के इस काण्ड का पर्दाफाश हो गया, अगर नहीं होता तो क्या परभणी की मस्जिदों के सामने हुए बम विस्फोटों की तरह विस्फोटों की एक नयी श्रृंखला सामने आती और वह पूरे सूबे में तनाव का सबब बनती ? नांदेड बम विस्फोटों की पड़ताल करने नागपुर शहर से गयी 'पीपुल्स यूनिशन फार सिविल लिबर्टीज़' एवम 'सेक्युलर सिटिज़न्स फोरम' की रिपोर्ट में इस बात का विशेष उल्लेख किया गया है कि भाजपा तथा शिवसेना के स्थानीय पदाधिकारियों ने ज़िला प्रशासन को इस बात की चेतावनी दी कि 'बेगुनाहों को तंग न किया जाये' जिसका अर्थ

यही निकाला जा सकता है कि वह इस पूरे मामले की गहराई से जांच नहीं होने देना चाहते थे।

पिछले दिनों पीपुल्स यूनिन फार सिविल लिबर्टीज़ (पी.यू.सी. एल), नागपुर तथा धर्मनिरपेक्ष नागरिक मंच, नागपुर के संयुक्त तत्वावधान में नांदेड बम विस्फोट को लेकर एक रिपोर्ट जारी की गयी (www.pucl.org) प्रस्तुत रिपोर्ट बजरंग दल के प्रांतीय अध्यक्ष के इन दावों को खारिज करती है कि विस्फोट वहां रखे गये पटाखों के कारण हुए। रिपोर्ट के मुताबिक 'अगर पटाखे आग पकड़ते हैं तो इन विस्फोटों/आवाजों का एक सिलसिला सुनाई देता है, न कि कोई सशक्त विस्फोट दिखता है। दूसरे, पटाखे जलने की सूरत में मकान में भी आग लगती है, ऐसी बात यहां नहीं दिखती। 7 अप्रैल को जारी पोस्ट मार्टम रिपोर्ट 'पटाखों' की बात को पूरी तरह खारिज करती है क्योंकि उसके मुताबिक मृतकों के शरीरों से बम के टुकड़े भी निकाले गये।' रिपोर्ट इस बात को भी जोड़ती है कि 'नांदेड के पुलिस महानिदेशक/आई.जी. ने इस बात की ताईद की है कि मौका-ए-वारदात से जिन्दा पार्सिप बम बरामद हुए तथा सभी आरोपी बजरंग दल से संबंधित थे। तथा उपरोक्त घर बम बनाने का कारखाना था।' टीम के लिए सबसे अधिक चिन्ताजनक पहलू था कि बरामद किया गया जिन्दा बम आई. ई. डी. तरह का था जिसे रिमोट कन्ट्रोल से संचालित किया जा सकता था।

अभी दावे के साथ नहीं कहा जा सकता कि नांदेड बम विस्फोट की साजिश में पकड़े गये इन युवकों तथा असली साजिशकर्ताओं पर किस धारा में मुकदमा चलेगा। अगर आडवाणी के गृहमंत्री काल को याद करें तो उन दिनों बनाया एक कानून अगर अभी भी कायम होता तो निश्चित तौर पर इन सभी पर इसी कुख्यात पोटा के तहत आतंकवादी के तौर पर मुकदमा चलता। इसकी धारा तीन साफ-साफ कहती थी 'जो कोई लोगों में आतंक फैलाने के उद्देश्य से ऐसा कोई काम करता है - जिसमें विस्फोटक पदार्थ या बन्दूक या अन्य किसी खतरनाक हथियार का प्रयोग होता है - या अन्य किसी भी तरीके से, जिसके तहत किसी व्यक्ति की जान चली जाती है या वह घायल होता है या सम्पत्ति का नुकसान होता है.....वह आतंकवादी कारनामा करता है।'

वैसे यह तो स्पष्ट है कि यह कोई पहला मौका नहीं है जब हिन्दुत्ववादी संगठनों के कारिन्दे दंगा कराने की नीयत से आपराधिक कार्रवाइयों को अंजाम देते पकड़े गये हों। अभी पिछले साल की ही बात है भीलवाड़ा, राजस्थान में अल्पसंख्यकों पर बढ़ते हमलों के सन्दर्भ में क्षेत्रीय पीपुल्स यूनिन फॉर सिविल लिबर्टीज़ को अपनी जांच पड़ताल में इसी किस्म के तथ्य सामने आये थे। अप्रैल माह की बात है, भीलवाड़ा के करेडा तहसील स्थित पांच मंदिरों में 786 लिखी हरी झंडियां और पशुओं की हड्डियां मिलीं। लगातार तीन दिन तक करेडा बन्द रहा। संघ सम्प्रदायी संगठनों ने करेडा स्थित सूफी

दरवेश सैलानी सरकार पर इसकी जिम्मेदारी सौंपते हुए उनके खिलाफ कार्रवाई करने के लिए उकसाया। पुलिस ने दबाव में आकर जांच भी की लेकिन उसे कुछ भी नहीं मिला। बाद में मंदिरों को अपवित्र करने की इस घटना में मुख्य सरगना कथित रूप से हिन्दुत्ववादी संगठन का एक नेता निकला जिसने अपने किसी मुस्लिम मित्र के साथ मिल कर यह षडयंत्र रचा था।

वैसे नान्देड बम विस्फोट में शामिल बताये जा रहे बजरंग दल के सदस्यों की गतिविधियों को हमेशा ही शंका की निगाहों से देखा जाता रहा है। जानकार लोग बता सकते हैं कि विश्व हिन्दू परिषद् द्वारा 1986 में उसके गठन के समय से ही विवादों के साथ बजरंग दल का लम्बा रिश्ता रहा है। यही वह दौर था जब विश्व हिन्दू परिषद् की ओर से रामजन्मभूमि आन्दोलन को गति प्रदान करने के लिये राम-जानकी रथयात्रा का आयोजन किया जा रहा था और इसी यात्रा के लिये संरक्षण प्रदान करने के लिये हिन्दू युवकों को बजरंग दल के तत्वावधान में संगठित किया गया। विश्व हिन्दू परिषद् की स्थापना साठ के दशक के पूर्वार्द्ध में तत्कालीन संघ सुप्रीमो गोलवलकर की पहल पर हुई थी।

लोगों को याद होगा कि वर्ष 1999 में जब ग्राहम स्टेन्स और उसके दो छोटे बच्चों को जिन्दा जलाने की घटना में शामिल होने के भी इसके कार्यकर्ताओं पर आरोप लगे थे। इस घटना के महज़ तीन साल बाद उसी उड़ीसा में एक और बड़े काण्ड में विवादों के घेरे में आये थे। विश्व हिन्दू परिषद् और दुर्गा वाहिनी जैसे संगठन के सदस्यों के साथ मिलकर इनके सदस्यों द्वारा उड़ीसा विधानसभा पर किये गये हमले की ख़बर आयी थी। बताया जाता है कि इन संगठनों के सदस्य विधानसभा के बाहर धरने पर बैठे थे, जिसमें उनकी मांग थी कि अयोध्या में राम मन्दिर बनाने के लिये ज़मीन को रामजन्मभूमि न्यास को सौंपी जाये। जैसे ही सदन में भोजनावकाश हुआ, पांच सौ से अधिक की तादाद में त्रिशूल, लाठियां लिये इनके लोगों ने विधानसभा भवन पर हमला बोला। इस हमले में उन्होंने वहां काफ़ी तोड़फोड़ की और कई लोगों के साथ बदसलूकी की। (द हिन्दू, मार्च 17, 2002)

अभी दो साल पहले की ही बात है जब बजरंग दल और उसके 'पितृ' संगठन विश्व हिन्दू परिषद् ने महाराष्ट्र के सातारा ज़िले के प्रतापगढ़ किला स्थित अफ़ज़ल खान की कब्र को ध्वस्त करने का ऐलान किया था। (पीटीआई, सितम्बर 5, 2004) विश्व हिन्दू परिषद् और बजरंग दल के संयुक्त तत्वावधान में वहां इस काम को अंजाम देने के लिये काफ़ी लोगों को जुटाने की भी कोशिश की गयी थी। यह जुदा बात है कि यह समूचा कार्यक्रम टांग टांग फिस्स हो गया।

शायद लोगों को ढाई साल पहले उत्तर भारत के तमाम अख़बारों में छपी वह ख़बर याद होगी जिसमें बताया गया था कि 'बजरंग दल ने किस तरह एक गांव को मुसलमानों से मुक्त किया।' (इण्डियन एक्सप्रेस, 29 सितम्बर 2003) की रिपोर्ट ने

इस घटनाक्रम का विस्तृत वर्णन पेश किया था : 'अकलेरा (राजस्थान) एक चमकता केसरिया झण्डा इस 'आदर्श हिन्दू ग्राम' में आप का स्वागत करता है। हरियाली से घिरे मिश्रोली गांव ने इसी महिने यह नाम धारण किया है। बीते दस दिन यहां बजरंग दल के हथियारबन्द कार्यकर्ताओं ने उत्पात मचाया है, जिसके तहत उन्होंने 25 मुस्लिम परिवारों को अपने घरों से खदेड़ा है, उनके घरों में लूटपाट की है और उन्हें आग के हवाले किया है।'

पांच साल से अधिक समय बीत गया एक अन्य कारण से भी बजरंग दल और उसके समधर्मा संगठन चर्चित रहे हैं। अपने कार्यकर्ताओं को हथियारों का प्रशिक्षण देने के लिये वे शिविर चलाते रहते हैं। मुल्क के अलग अलग हिस्सों से इसके बारे में खबरें आती रहती हैं। नागरिक समाज/सिविल सोसायटी के सैन्यीकरण की उनकी कोशिशें - 'त्रिशूल दीक्षा' जैसे एक अलग रूप में भी प्रगट होती रहती हैं जिसके तहत प्रतीकात्मक धार्मिक समारोह के जरिये लोगों को तेज धार वाले नुकीले हथियार बांटे जाते हैं। पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज ने 2003 की अपनी एक रपट में इस बात को उजागर किया था कि 'त्रिशूल दीक्षा कार्यक्रमों और ऐसे इलाके जहां साम्प्रदायिक तनाव ने हिंसक शकल धारण की है, दोनों के बीच गहरा रिश्ता दिखता है।'

अब जहां तक अपने देश के संविधान का सवाल है तो उसके तहत यह स्पष्ट है कि निजी सेनाओं का हथियारबन्द होना एक तरह से कानून और व्यवस्था के लिए चुनौती समझा जाता है। 1959 में बना **इण्डियन आर्म्स एक्ट** बिना लायसेन्स के हथियारों के रखने पर पाबन्दी लगाता है। लेकिन इसे विडम्बना ही कहा जाएगा कि आज की तारीख में भारतीय नागरिक समाज के इस जबरन सैन्यीकरण को रोकने वाला कोई नहीं है।

कोई यह पूछ सकता है कि हिंसक घटनाओं में शामिल होने या एक ऐसा वातावरण बनाने के पीछे का तर्क क्या है? इसमें कोई दो राय नहीं कि इस तरह की घटनायें जो सामाजिक ताने-बाने के साम्प्रदायिकीकरण तथा सैन्यीकरण को बढ़ावा देती हैं, उसके चलते जो वातावरण निर्मित होता है उसमें एक खास तरह के विचार को फलने-फूलने का अधिक मौका मिलता है तथा जनतांत्रिक विरोध की सम्भावनायें कम

होती जाती हैं। संघ परिवार का विश्वदृष्टिकोण जो सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की बात करता है, जो धार्मिक अल्पसंख्यकों को ही नहीं बल्कि अवर्ण हिन्दू जातियों को भी 'अन्य' की तरह देखता है, इसकी स्वीकार्यता बढ़ने की सम्भावनाएँ अधिक हो जाती हैं।

वैसे नांदेड में हुए बम विस्फोट तथा उसमें संलिप्त हिन्दुत्ववादी संगठनों के कारिन्दों की यह घटना लगभग 58 साल पुराने एक चर्चित वाक्ये की याद ताज़ा करती हैं जिसमें मुसलमानों के जनसंहार की योजना इन्हीं हिन्दुत्ववादी जमातों ने बनायी थी जिसमें उनके तत्कालीन सुप्रीमो का नाम भी उछला था। उन दिनों संयुक्त प्रांत के मुख्य सचिव रहे राजेश्वर दयाल के संस्मरण 'ए लाईफ आफ अवर टाईम्स (1998, ओरिएन्ट लॉगमैन) में इस बात का विवरण पेश किया गया है। पुस्तक के मुताबिक बंटवारे के तत्काल बाद पश्चिम क्षेत्र के पुलिस महानिदेशक रहे जनाब जेटली ने उनके सामने हथियारों से लदे लोहे के दो बक्से पेश किये।' वे इस साज़िश का सबूत थे कि पश्चिमी जिलों में साम्प्रदायिक विध्वंस के सिलसिले को बढ़ाया जाये। उसमें मुसलमानों की बस्तियों और रिहाइश के इलाके के अचूक नक्शे थे।... संघ के कार्यालयों पर समय रहते डाले गये छापों के चलते इस प्रचण्ड षडयंत्र का पता चल सका था। यह समूची साज़िश संगठन के सुप्रीमो के निर्देशों और देखरेख में ही चली थी। मैंने तथा जेटली ने मुख्य आरोपी गोलवलकर की तुरन्त गिरफ्तारी के आदेश देने के लिए जोर डाला' लेकिन संयुक्त प्रांत के तत्कालीन गृहमंत्री गोविन्द बल्लभ पन्त ने गिरफ्तारी का आदेश देने से इन्कार किया।

अन्त में, नांदेड काण्ड से यह तो किसी भी साधारण व्यक्ति के लिए भी साफ होगा कि हिन्दुत्ववादी संगठनों की ओर से कोई गहरी साज़िश रची गयी थी, जो कामयाब नहीं हो सकी। लेकिन सोचने का सवाल बनता है कि शेष भारत में इसे लेकर इतना मौन क्यों है, इस चुप्पी के षडयंत्र का राज़ क्या है? अगर किसी अल्पसंख्यक बहुल इलाके में इस किस्म की घटना सामने आती तथा किसी अतिवादी इस्लामिक समूह का नाम उससे जोड़ा जाता तो क्या इसी तरह की खामोशी बनी रहती ?

साथियों,

हम उम्मीद करते हैं कि आई.एस.डी. का न्यूज़लैटर 'समरथ' आपको नियमित रूप से मिल रहा है। हम चाहते हैं कि आप 'समरथ' पर अपनी आलोचना, प्रतिक्रियाएं और सुझाव भेजें वो चाहे विषयों के चयन पर हो या फिर भाषा और शैली को लेकर। साथ ही ये भी बताएँ कि आप किन और विषयों को 'समरथ' में जोड़ना चाहेंगे। ये हमें 'समरथ' को और भी उपयोगी बनाने में मदद करेगा। हमें आपके ख़तों का इंतज़ार रहेगा। सधन्यवाद।

आई.एस.डी.

सुलगते मैदान, धधकते पहाड़ — 2 क्या बोलिविया में समाजवाद संभव है?

एजाज़ अहमद

इस शृंखला के पिछले आलेख के अंत में मैंने कहा था कि क्योंकि बोलिविया के 46 वर्षीय नवनिर्वाचित राष्ट्रपति ईवो मोरालेस फिदेल कास्त्रो को अपना दोस्त बताते हैं इसलिए उनके लिए यह लैटिन अमेरिकी क्रांति के इस प्रकाश पुरुष से कुछ ज़रूरी सबक लेने का समय आ गया है। फिदेल ने भी मोरालेस की फतह के बाद अपने लंबे शुभकामना संदेश में लिखा था : “यह अमेरिका की, देसी अमेरिका की, अश्वेत अमेरिका की, स्टेस्टज़ो अमेरिका की, बोलिवार और मार्ती के अमेरिका की खोज है... सही मायनों में नई खोज... आपकी जीत के साथ इतिहास में एक नए युग का सूत्रपात हुआ है।” मोरालेस ने इस बधाई संदेश के जवाब में क्यूबा की जनता के नाम एक संदेश भेजा और उसमें वादा किया कि वह “साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष” में क्यूबाई जनता का हर कदम पर साथ देंगे। राष्ट्रपति पद पर चुने जाने के दस दिन के भीतर वह अपने “दोस्त” की तरफ से भेजे गए जेट हवाई जहाज़ पर सवार होकर क्यूबा को रवाना हो गए।

हालांकि मोरालेस संवैधानिक रूप से अभी सिर्फ एक साधारण नागरिक हैं और औपचारिक रूप से उन्हें 22 जुलाई को राष्ट्रपति का पदभार संभालना है लेकिन फिदेल ने सारे स्थापित कायदे-कानूनों को ताक पर रखकर एक राज्याध्यक्ष की तरह उनका स्वागत किया। बल्कि ये दोनों लोग इससे भी एक कदम आगे चले गए। उन्होंने ऐसे कई समझौतों पर हस्ताक्षर किए जो मोरालेस के शपथ ग्रहण के फौरन बाद लागू मान लिए जाएंगे। बताया जाता है कि दोनों नेताओं ने 15 घंटे एक दूसरे के साथ बातचीत करते हुए बिताए और इस दौरान ह्यूगो चावेज़ भी टेलीफोन के ज़रिए बातचीत में लगातार शिरकत कर रहे थे। इस बीच मोरालेस ने ऐलान किया है कि राष्ट्रपति का पदभार ग्रहण करने के सिलसिले में होने वाला समारोह वह दो अलग-अलग स्तरों पर मनाएंगे। इनमें से एक सरकारी समारोह होगा जबकि दूसरे में आम लोग राजधानी ला पाज़ में इकट्ठा होंगे और मोरालेस उनके साथ अपनी जीत का जश्न मनाएंगे। फिदेल को इन दोनों कार्यक्रमों में आमंत्रित किया गया है।

क्यूबा-बोलिविया संधि की शर्तों के मुताबिक क्यूबा जुलाई से बोलिविया में शुरू होने वाले साक्षरता अभियान के लिए तकनीकी और मानवीय सहायता उपलब्ध कराएगा। मोरालेस ने ऐलान किया है कि इस अभियान में गांव-देहात की औरतों को शिक्षित करने पर विशेष ज़ोर दिया जाएगा।

उन्होंने कहा है कि, “हमारी योजना यह है कि डेढ़ साल के भीतर बोलिविया के हर इंसान को पढ़ने-लिखने लायक

बना दिया जाए। अब इस बात को बर्दाश्त नहीं किया जा सकता कि तीसरी सहस्राब्दी में पहुंच कर भी बोलिविया में कोई निरक्षर रह जाए। अब तक राज्य ने किसान औरतों को बार-बार नज़रअंदाज़ किया है।”

क्यूबा ने यह भी आश्वासन दिया है कि अगले दो साल के भीतर बोलिविया के 5,000 विद्यार्थियों को निःशुल्क डॉक्टरी की शिक्षा दी जाएगी और बोलिविया में आंखों के तीन बड़े अस्पताल खोले जाएंगे ताकि बोलिविया के ऐसे लोगों को भी आंखों का निःशुल्क इलाज मिल सके जो नेत्र चिकित्सकों और शल्य चिकित्सकों की फीस नहीं चुका सकते। इन अस्पतालों में तमाम ज़रूरी उपकरण, दवाइयां और कर्मचारी तैनात किए जाएंगे। यह सबसे पहले वेनेजुएला में शुरू किए गए कार्यक्रम की ही अगली कड़ी है जिसे अब अन्य लैटिन अमेरिकी देशों में भी फैलाया जा रहा है। बोलिवियाई क्रांति के लिए अपने प्राणों की आहुति देने वाले चे गुएवारा का जिक्र करते हुए मोरालेस ने कहा कि दोनों देशों के बीच यह समझौता क्यूबा के लोगों, खासतौर से चे गुएवारा द्वारा शुरू किए गए संघर्ष का ही नतीजा है : “अगर वह बीज न बोया जाता तो बोलिवियाई जनता के कायापलट का संघर्ष संभव नहीं हो सकता था।”

मोरालेस ने फिदेल को *एल कोमान्दांते* कहकर संबोधित किया है। बीते सालों में वह फिदेल और चावेज़ को “लैटिन अमेरिकी क्रांति के दो कमांडर” कहकर संबोधित करते रहे हैं। बहरहाल, नए साल के जश्न के लिए अपने गृह नगर की यात्रा करने के बाद वह आधा दर्जन देशों की यात्रा पर निकल गए और सबसे पहले वह वेनेजुएला ही गए जहां चावेज़ के साथ उन्होंने एक व्यापक सहयोग संधि पर हस्ताक्षर किए। इस समझौते में यह व्यवस्था भी की गई है कि वेनेजुएला से बोलिविया को तकरीबन 1,50,000 बैरल डीज़ल माहवार मिलेगा जिसके बदले में बोलिविया से वेनेजुएला को कृषि उत्पाद मिलेंगे। वेनेजुएला को अपने दीर्घकालिक भंडार जुटाने के लिए इन चीज़ों की काफी ज़रूरत है। कायदे से देखा जाए तो वेनेजुएला से मिलने वाला डीज़ल बोलिविया के लिए सिर्फ एक तोहफा है। इस तोहफे के ज़रिए दोनों देशों ने अमेरिका को इस बात का इशारा कर दिया है कि इस बार अमेरिका बोलिविया की वैसी आर्थिक घेरेबंदी नहीं कर सकता जैसी पचास के दशक में कर दी गई थी और बोलिवियाई क्रांति सिर्फ इस वजह से बेमौत मारी गई थी क्योंकि बोलिविया की अर्थव्यवस्था अमेरिकी व्यावसायिक ताकत पर बहुत ज़्यादा निर्भर थी।

मोरालेस जिन आधा दर्जन देशों के दौरे पर जा रहे हैं उनमें दक्षिण अफ्रीका भी एक है। इस दौरे के आखिर में वह ब्राज़ील जाएंगे जहां के तेल और गैस का सवाल भी निश्चय ही चर्चा में उठेगा क्योंकि ब्राज़ील की तेल कंपनी पेट्रोब्रास का बोलिविया के तेल भंडारों में काफी कुछ दांव पर लगा हुआ है जबकि मोरालेस का कहना है कि वह या तो अपने तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर देंगे या बोलिविया में काम करने वाली सभी विदेशी कंपनियों के साथ किए गए समझौतों की शर्तों में बुनियादी फेरबदल करेंगे। ब्राज़ील के राष्ट्रपति लुईस इनासियो लूला दा सिल्वा के साथ उनकी मुलाकात पर दुनिया भर की नज़रें रहेंगी क्योंकि राष्ट्रपति बनने के बाद मोरालेस को एक बहुत अहम फैसला लेना है : या तो वह फिदेल और चावेज़ के क्रांतिकारी खेमे के साथ अपने संबंधों को और पुख्ता बना सकते हैं, या वह अपने क्रांतिकारी कार्यक्रम से पल्ला झाड़ते हुए लूला के रास्ते पर आगे बढ़ सकते हैं जिन्होंने अपने उन तमाम आश्वासनों को धूरे पर फेंक दिया है जिनके दम पर उन्होंने ब्राज़ील के राष्ट्रपति का पद हासिल किया था। लेकिन इसी पैमाने पर देखा जाए तो बोलिविया में मोरालेस की जीत और पूरे लैटिन अमेरिका में वामपंथ की तरफ बढ़ते रुझान और ब्राज़ील में लूला की लगातार घटती लोकप्रियता के चलते यह भी मुमकिन है कि लूला ही दोबारा अपनी वामपंथी जड़ों की तरफ लौटने लगें। फिलहाल वह बोलिविया के प्रति जैसी एकजुटता और बिरादराना भावनाओं का इज़हार कर रहे हैं उनको देखते हुए मोरालेस के साथ होने वाली उनकी मुलाकात एक अग्निपरीक्षा से कम नहीं होगी।

इस स्थिति पर अपनी प्रतिक्रिया देते हुए अमेरिकी औद्योगिक मीडिया ने मोरालेस की जीत में चिंता के कारण ढूँढना शुरू कर दिया है। लेकिन साथ ही उन्होंने “बकवादी वामपंथ” (क्यूबा और वेनेजुएला) तथा “ज़िम्मेदार वामपंथ” (ब्राज़ील, अर्जेंटीना और चिली की सरकार) के बीच फर्क करने की भी शुरुआत कर दी है। इसी आधार पर 23 दिसंबर को *दि वॉल स्ट्रीट जर्नल* ने अपने संपादकीय में लिखा था : “बोलिविया के राष्ट्रपति पद पर ईवो मोरालेस की जीत लैटिन अमेरिका में मुक्ति की संभावनाओं के लिए एक दुःखद समाचार है...। बोलिवियाई सियासत में फिदेल कास्ट्रो और उनके चले, वेनेजुएला के राष्ट्रपति ह्यूगो चावेज़ की कोई मामूली भूमिका नहीं है। इस चिंता का ठोस आधार दिखाई देता है कि मोरालेस को बोलिविया में चावेज़ के रास्ते पर चलने के लिए बाध्य किया जाएगा और हो सकता है वह जुलाई में गठित होने वाली संविधान सभा में अपनी स्थिति मज़बूत करके वैधानिकता की आड़ में अपने राजनैतिक प्रतिद्वंद्वियों को नष्ट करने की मुहिम छेड़ दें। बोलिविया में जो भी थोड़ा-बहुत लोकतंत्र बचा है, वह भी मोरालेस के शासनकाल में चावेज़ जैसे संरक्षकों के रहते सुरक्षित रह जाएगा या नहीं इस बारे में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता...। ब्राज़ील निश्चय ही मोरालेस को सतर्क होकर चलने की नसीहत देगा क्योंकि ब्राज़ील की

कंपनी पेट्रोब्रास का बोलिविया के गैस बाज़ार में काफी कुछ दांव पर लगा हुआ है। मोरालेस को यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि अभी उनके देश के ज्यादातर भूमिगत भंडारों का पर्याप्त अन्वेषण नहीं हुआ है और विदेशी निवेश के बिना वह उनके दोहन का सपना भी नहीं देख सकते।”

बोलिवियाई चुनावों के नतीजे आने के एक दिन बाद छपी इस संपादकीय टिप्पणी में चार चीज़ें बड़ी बेजोड़ हैं। पहली, जैसा कि पिछले लेख में जिक्र किया जा चुका है, बोलिविया में अब तक कोई भी राष्ट्रपति 35 प्रतिशत से अधिक वोट प्राप्त नहीं कर पाया था जबकि मोरालेस को 55 फीसदी वोट मिले हैं। इसके बावजूद उनकी विजय को “मुक्ति की संभावनाओं के लिए दुःखद समाचार” बताया जा रहा है। दूसरी, एक प्रातिनिधिक संविधान सभा के ज़रिए संवैधानिक बदलावों के जाहिरा तौर पर उदार और लोकतांत्रिक आश्वासन को “कानून की आड़” में कुछ और कर डालने की चाल बताया जा रहा है। तीसरे, लूला से ये उम्मीद की जा रही है कि वह मोरालेस को “संयम बरतने का” का पाठ पढ़ाएंगे और मोरालेस को चावेज़ और फिदेल के सबकों से दूर रखेंगे। और चौथी, संपादकीय लेखकों को उम्मीद है कि “विदेशी निवेश” का लालच मोरालेस को रास्ते पर ला देगा।

यहां पंच यह है कि अगर बोलिवियाई गैस और तेल पर कुंडली जमाए बैठी विदेशी पूंजी पूरी तरह हड़ताल पर चली जाए तो भी वेनेजुएला की वजह से बोलिविया को तेल की कमी नहीं पड़ेगी। दूसरी तरफ चीन की सरकार ने भी ऐलान कर दिया है कि वह मोरालेस की शर्तों पर बोलिवियाई तेल और गैस उद्योग में भारी निवेश करने को तैयार है। यह बात इस तथ्य से अलग है कि बोलिविया की विद्रोही जनता की सबसे बड़ी बल्कि एकमात्र मांग यह है कि देश के तमाम खनिज संसाधनों का “राष्ट्रीयकरण” कर दिया जाए। यह ऐसी मांग है जिसकी वजह से दो साल के भीतर दो राष्ट्रपति सत्ता से हाथ धो चुके हैं। मोरालेस ने खनिज संसाधनों का राष्ट्रीयकरण करने की बजाय उसकी राजस्व संरचना में कुछ अहम बदलाव करके अपने कार्यक्रम में कुछ बदलावों का संकेत दे दिया है और हो सकता है कि वह इन रियायतों पर भी न रुक पाएं क्योंकि वह एक ऐसे बाघ की सवारी कर रहे हैं जिस पर उनका भी नियंत्रण नहीं है।

लैटिन अमेरिका न केवल वामपंथ की तरफ बल्कि “बकवादी वामपंथ” की तरफ झुकता जा रहा है, इस आशय का भय 24 दिसंबर को *दि न्यूयार्क टाइम्स* ने भी अपने संपादकीय में व्यक्त कर दिया। इस संपादकीय टिप्पणी में कहा गया था कि “अपने चुनाव अभियान के दौरान मोरालेस ने खुद को वाशिंगटन के लिए ‘एक दुस्वप्न’ बताया था। लैटिन अमेरिका के बारे में बुश का खेमा जो कुछ चाहता है मोरालेस हर उस चीज़ के खिलाफ हैं। कोका पत्तियों के उत्पादन की रोकथाम से लेकर प्राकृतिक संसाधनों के निजीकरण और व्यापार उदारीकरण तक वह बुश के तमाम मंसूबों का विरोध करते हैं। ह्यूगो चावेज़

और फिदेल कास्ट्रो उनके पसंदीदा लैटिन नेता हैं और इस क्षेत्र में वाशिंगटन विरोधी पोजीशन की राजनीतिक लोकप्रियता लगातार बढ़ती चली जा रही है। लैटिन अमेरिका का राजनीतिक संतुलन साफ तौर पर वामपंथ की तरफ झुकने लगा है। दक्षिण अमेरिका के 36.5 करोड़ लोगों में से तकरीबन 30 करोड़ वामपंथी रुझानों की सरकारों के तहत जी रहे हैं। हालांकि ब्राज़ील और चिली जैसी कई सरकारों ने अमेरिका के साथ सहयोग बनाए रखने की दिशा में काफी प्रगति की है लेकिन वेनेजुएला जैसी कई सरकारें तो वाशिंगटन से लोहा लेने के लिए अपनी हदों से बाहर जा चुकी हैं। श्री मोरालेस ने इस आशय का स्पष्ट संकेत दे दिया है कि वह चावेज़ के रास्ते पर चलना चाहते हैं। बहुत सारे लैटिन अमेरिकी देशों में जल्दी ही होने वाले चुनावों में भी बकवादी वामपंथ की तरफ इसी तरह के झुकाव की मज़बूत संभावना दिखाई देती है। पेरू, मैक्सिको और निकारागुआ में जल्दी ही चुनाव होने वाले हैं और वहां भी ऐसे ही नतीजे सामने आ सकते हैं।”

महाद्वीपीय बदलावों की नज़र से इन चुनावों में सबसे महत्वपूर्ण चुनाव स्वाभाविक रूप से मैक्सिको में ही होने वाला है। लेकिन उपरोक्त संपादकीय में चिली का उल्लेख नहीं आता जहां जल्दी ही चुनाव होने वाले हैं और वहां भी “मध्यमार्गी वामपंथ” और रूढ़िवादी दक्षिणपंथ, दोनों आमने-सामने हैं और संतुलन किसी भी तरफ झुक सकता है। अगर वहां “मध्यमार्गी” वामपंथ की जीत होती है तो लैटिन अमेरिका के किसी देश में पहली बार कोई औरत राष्ट्रपति बनेगी और चारों तरफ ज़मीन से धिरे बोलिविया पर पड़ रहा दबाव काफी कम हो जाएगा। उसके लिए यह इतनी बड़ी राहत की खबर होगी कि हाल तक एक दूसरे से दुश्मनी के रिश्ते में बंधे रहे ये दोनों देश बोलिवियाई गैस भंडारों से प्रशांत सागर तट तक एक लंबी पाइपलाइन के निर्माण के प्रस्ताव पर वार्ता भी शुरू कर सकते हैं। यह पाइपलाइन उसी इलाके से होकर गुज़रेगी जो कभी बोलिविया का हिस्सा था और जिसे 1880 के दशक में चिली ने जबरन अपने कब्जे में ले लिया था। अमेरिका में हो रही इन चौतरफा संपादकीय टिप्पणियों की अहम बात यह है कि दक्षिण अमेरिका के सबसे गरीब और महज़ 80 लाख लोगों के देश में मोरालेस की चुनावी विजय को न केवल एक राष्ट्रीय घटना बल्कि बदलते महाद्वीपीय समीकरणों का एक अहम संकेतक बताया जा रहा है। बताते हैं कि फिदेल कास्ट्रो ने किसी बैठक में यह टिप्पणी भी की थी कि वेनेजुएला में क्रांति के रूप में क्यूबा को आधी सदी की मेहनत के बाद पहला बड़ा मौका हाथ लगा है (हालांकि उन्होंने अलेंदे के चिली या सांदिस्तनिता के निकारागुआ को इस श्रेणी में नहीं रखा) और अमेरिका को डर है कि क्यूबा के इस नक्शे में अब बोलिविया दूसरा बड़ा मौका बनने जा रहा है जिसके नतीजे बोलिविया के अपने भूक्षेत्र से कहीं ज़्यादा दूर तक महसूस किए जाएंगे।

मोरालेस को “संयमित” रास्ता दिखाने के लिए दबाव बढ़ता जा

रहा है और इस बात की भविष्यवाणी भी की जाने लगी है कि वह संयमित रास्ते पर ही चलेंगे। अभी तक इस तरह की सबसे बेबाक भविष्यवाणी जेम्स पेट्रास ने की है जो लैटिन अमेरिकी मामलों पर विचार करने वाले अमेरिकी वामपंथी विद्वानों में शायद सबसे ज़्यादा प्रखर दृष्टि रखते हैं। आधी सदी से भी ज़्यादा वक्फे तक उन्होंने विविध प्रकार के वामपंथी संगठनों के साथ नज़दीकी से काम किया है। वह ब्राज़ील के भूमिहीन खेतिहर मज़दूर संगठन के भी अच्छे जानकार रहे हैं। इसलिए वह अच्छी तरह जानते हैं कि लूला जैसे उग्र वामपंथी नारों पर जीतने वाले नेता भी किस तरह सत्ता में आने के बाद अकसर अपने वादों से मुकर जाते हैं। पेट्रास ने हाल ही में “दि बैंकर्स कैन रेस्ट इज़ी : ईवो मोरालेस : ऑल ग्राउल, नो क्लॉज़?” नाम से एक लेख लिखा था जिसमें उन्होंने “अतिउत्साही वामपंथी विरुदावली गायकों की फौज” को आगाह करते हुए कहा था कि वह इस बात को ध्यान में रखें कि मोरालेस ने हमेशा “जनांदोलनों” के मुकाबले “चुनावी सियासत” को तरजीह दी है और 2002 में जब वह 2 प्रतिशत से भी कम मतों से हार गए थे, तब से अब तक वह दिनोंदिन दक्षिणपंथ की तरफ बढ़ते जा रहे हैं और राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय व्यावसायिक ताकतों को बार-बार आश्वासन दे रहे हैं कि राष्ट्रपति के रूप में वह नवउदारवादी नीतियों से दूर नहीं जाएंगे।

पेट्रास ने अपनी दलील के समर्थन में तीन बातें कहीं हैं : (1) मोरालेस ने 2003 और 2005 के विशाल जनउभारों में हिस्सा नहीं लिया, अपनी चुनावी पोजीशन को मज़बूत करने के लिए तरह-तरह की लपफाजी करते रहे जबकि विद्रोही भावनाओं को “संस्थागत रास्तों” (यानी राष्ट्रपति पद और संसद के लिए चुनावों) की तरफ बढ़ने को प्रेरित करते रहे। (2) मोरालेस ने मुतुन (एमयूटीयूएन) के निजीकरण का समर्थन किया है जिसे दुनिया के सबसे बड़े लौह खान भंडारों में गिना जाता है। इस निजीकरण के प्रस्ताव पर उन्होंने 2005 में ही समर्थन दिया है और “अमेरिकी राजदूत, बोलिविया के रईसों और बैंकरों तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों” को आश्वासन दिया है कि वह न तो ज़्यादा संपदाओं का राष्ट्रीयकरण करेंगे और न ही अब तक के (ज़्यादातर गैरकानूनी) निजीकरण सौदों को रद्द करेंगे बल्कि वह विदेशी निवेश का स्वागत करेंगे। (3) मोरालेस के कृषि आयोग ने भी कृषि सुधारों का कोई ब्ल्यू प्रिंट पेश नहीं किया है और “अमीरों से कर वसूली” का उनका आश्वासन सिर्फ 1 प्रतिशत शीर्षस्थ तबके से वसूल किए जाने वाले करों में इज़ाफ़े पर आकर सिमट गया है। बाकी बुर्जुआज़ी तथा उच्च मध्यवर्ग के साथ छेड़छाड़ की तमाम संभावनाएं हाशिए पर धकेल दी गई हैं।

जेम्स पेट्रास वामपंथी खेमे के निष्ठावान सदस्य हैं और *दि वॉल स्ट्रीट जर्नल* से निश्चय ही घृणा करते हैं। इसके बावजूद *जर्नल* के संपादकीय में लूला और ब्राज़ील की कंपनी पेट्रोब्रास से मोरालेस को “संयत” करने की जो उम्मीद व्यक्त की गई है उससे पेट्रास का भी ज़्यादा मतभेद नहीं है : “13

जनवरी 2006 को ईवो ब्राज़ील जा रहे हैं। वहां वह गैस, पेट्रोकेमिकल्स, तेल तथा अन्य खनिज पदार्थों के क्षेत्र में निवेश के लिए बड़ी-बड़ी ब्राज़ीली कंपनियों से चर्चा करेंगे। ब्राज़ील के वित्तीय मामलों के अखबार *वालो* (26 दिसंबर 2005) के मुताबिक लूला अपनी तरफ से सरकारी मदद का प्रस्ताव रखेंगे और ईवो से इस बात के लिए आग्रह करेंगे कि वह 'निवेश के लिए स्थिर माहौल' रचने की कोशिश करें। ब्राज़ील की विशालकाय बहुराष्ट्रीय कंपनी पेट्रोब्रास बोलिविया के गैस भंडारों से हर रोज़ 2.5 करोड़ क्यूबिक मीटर गैस निकालती है और उस पर 15 प्रतिशत से भी कम कीमत टैक्स के रूप में चुकाती है। यह तेल उसे अंतर्राष्ट्रीय कीमतों से कम कीमत पर मिलता है। लूला को उम्मीद है कि वह इस 'सहायता' के बदले ब्राज़ीली बहुराष्ट्रीय कंपनी द्वारा इस बहुमूल्य ऊर्जा संसाधन के सस्ते दोहन की जड़ें और मजबूत कर लेंगे। यही वजह है कि ला पाज़ में बिकने वाले गैस की कीमत साओ पोलो में बिक रही गैस से तीन गुना ज़्यादा है।"

अभी यह देखना बाकी है कि मोरालेस लूला के दबावों का सामना कर पाते हैं या नहीं। लेकिन यहां इस बात का उल्लेख कर देना ज़रूरी है कि (क) बोलिविया की दो तिहाई आबादी विश्व बैंक की परिभाषा के हिसाब से गरीबी की रेखा से नीचे जीवनयापन कर रही है और देसी आबादी का तीन चौथाई हिस्सा गरीबी की रेखा से नीचे है, (ख) बोलिविया के गैस भंडार, जो कुवैत के गैस भंडारों के बराबर और लैटिन अमेरिका में वेनेजुएला के बाद दूसरे नंबर पर आते हैं, इस गरीबी को दूर करने के लिए सबसे महत्वपूर्ण संसाधन बन सकते हैं, (ग) चारों तरफ ज़मीन से घिरे और चिली के साथ तनाव में फंसे होने के कारण बोलिविया के सामने ब्राज़ील ही एकमात्र ऐसा पड़ोसी देश है जिसके इलाके से होकर इस गैस का निर्यात किया जा सकता है और ब्राज़ील की कंपनियां इस तथ्य को भली-भांति जानती हैं, तथा (घ) लूला उन राज्याध्यक्षों में से नहीं हैं जो अपने पड़ोसी की मदद करने के लिए अपनी ही बहुराष्ट्रीय कंपनियों के मुनाफे को खतरे में डाल दें। इन सारे तथ्यों को देखते हुए मोरालेस के पास बहुत ज़्यादा विकल्प नहीं हैं। अगर चिली में वामपंथी खेमा जीतता है और वह प्रशांत महासागर तट तक एक वैकल्पिक पाइपलाइन के निर्माण पर मंजूरी दे देता है, केवल तभी मोरालेस ऐसी स्थिति में आ सकते हैं कि वह ब्राज़ील की तरफ से बोलिविया पर पड़ने वाले दबावों और चुनौतियों का आसानी से सामना कर लें। लेकिन दिलचस्प बात यह है कि चिली और बोलिविया के बीच ऐतिहासिक रूप से जिस तरह के तनावपूर्ण और शत्रुतापूर्ण संबंध रहे हैं, उन्हें देखते हुए ऐसा नहीं लगता कि ये दोनों देश रातों रात एक दूसरे से हाथ मिला लेंगे।

चुनाव जीतने के फौरन बाद मोरालेस ने क्यूबा और वेनेजुएला के साथ नज़दीकी ताल्लुकात कायम करने के लिए तेज़ी से कदम बढ़ाए हैं लेकिन अभी भी वह चावेज़ की बजाय लूला वाली स्थिति की तरफ लौट सकते हैं। पेट्रास इस बात

पर मुतमईन हैं कि मोरालेस "एक मध्यमार्गी सामाजिक उदारवादी राजनेता हैं जो पिछले पांच सालों से लगातार मध्य बिंदु की तरफ बढ़ता जा रहा है"। मोरालेस राष्ट्रपति के रूप में किस तरह काम करेंगे इस बारे में पेट्रास की भविष्यवाणी भी बहुत सटीक है। "वह पेट्रोल या गैस उद्योग में मौजूद बहुराष्ट्रीय कंपनियों का राष्ट्रीयकरण नहीं करेंगे बल्कि उनसे वसूल किए जाने वाले करों में कुछ इजाफा ज़रूर कर देंगे और ज़मीन के नीचे मौजूद खनिज पदार्थों का 'राष्ट्रीयकरण' कर देंगे जिससे कंपनियों को खनिज पदार्थ निकालने, उन्हें यहां-वहां ले जाने और बेचने की आज़ादी मिली रहेगी। वह पूंजीवाद के तीन रूपों को बढ़ावा देंगे : छोटे और मझौले व्यवसाय की सुरक्षा, विदेशी निवेशकों को निमंत्रण और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के जूनियर हिस्सेदार के रूप में सरकारी पेट्रोलियम एवं खनन कंपनियों का वित्तपोषण। अपनी सरकार को स्थायित्व देने के लिए वह बहुत सारे लोकप्रिय नेताओं को सरकार में जगह देंगे और उन्हें सीमित बजट के आधार पर श्रम एवं समाज कल्याण जैसे विभाग सौंपेंगे। इन विभागों को मिलने वाला बजट उदारवादी अर्थशास्त्रियों के नियंत्रण में चलने वाले आर्थिक और वित्त मंत्रालयों की इच्छा पर निर्भर करेगा। मोरालेस इंडियन सांस्कृतिक उत्सवों को प्रोत्साहन और पैसा देंगे। वह इंडियन क्षेत्र के स्कूलों और सार्वजनिक कार्यक्रमों में इंडियन भाषा को बढ़ावा देंगे। 'भूमि सुधार' कार्यक्रम में बागानों को ज़ब्त नहीं किया जाएगा बल्कि निर्जन या उजाड़ ज़मीनों को हरा-भरा बनाने की कोशिश की जाएगी। कोका की खेती को कानूनी जामा पहना दिया जाएगा मगर उसे प्रति परिवार आधा एकड़ से भी कम पर सीमित कर दिया जाएगा। नशीली दवाओं के व्यापार पर पाबंदी लगा दी जाएगी। नशीली दवाओं के व्यापार और हवाला जैसे व्यवसायों से निपटने के लिए मोरालेस अमेरिकी डीईए (ड्रग एनफोर्समेंट एडमिनिस्ट्रेशन) के साथ मिलकर काम करने की कोशिश करेंगे।"

पेट्रास का मानना है कि खुद चावेज़ भी सिर्फ एक "लोकवादी" नेता ही हैं जो कुल मिलाकर पूंजीवाद की बुनियाद पक्की कर रहा है और जिसका पूरा क्रांतिकारी शब्दजाल पेट्रोलियम उद्योग के पैसे पर टिका हुआ है। पेट्रास के मुताबिक, अगर पेट्रोलियम उद्योग की आमदनी गई तो चावेज़ की "क्रांतिकारिता" भी काफूर हो जाएगी। ऐसे में मोरालेस के बारे में पेट्रास की टिप्पणी आश्चर्यजनक नहीं है। लेकिन अगर हम अपनी याददाश्त पर ज़ोर डालें तो दिखाई देता है कि जब लूला राष्ट्रपति चुने गए थे उस वक्त उनसे भी ऐसी ही उम्मीदें व्यक्त की गई थीं जिस तरह की उम्मीदें अब मोरालेस से वाबस्ता हैं। उन उम्मीदों का जो हथ्र हुआ वह भी हमारे सामने ही है। इस आधार पर यह समझना मुश्किल नहीं है कि अगर कोई व्यक्ति ब्राज़ील के भूमिहीन खेतिहर मज़दूर आंदोलन के साथ काम कर चुका हो, जिसने लैटिन अमेरिका की उठती-गिरती तमाम क्रांतिकारी लहरों पर आधी सदी तक नज़र रखी है, उसके पास ऐसे मौकों पर संदेह और एहतियात

के स्वर में बात करने की वाजिब वजहें हैं।

जेम्स पेद्रास के ज्ञान और प्रतिबद्धता पर कोई संदेह नहीं कर सकता। वैसे भी उन्माद के समय होश या एहतियात की बातों का स्वागत ही किया जाना चाहिए; बल्कि मुमकिन है कि उनकी भविष्यवाणी पूरी तरह सही ही साबित हो जाए। इतना ही नहीं, बोलिवियाई ट्रेड यूनियन और जनसंगठनों के बहुत सारे नेता जिन्होंने 2003 और 2005 में बगावतों को अंजाम दिया था वह भी इसी तरह के संदेह में पड़े दिखाई दे रहे हैं और उन्होंने भी “तेल देखो और तेल की धार देखो” वाला रवैया अपनाया हुआ है हालांकि इन बगावतों में हिस्सा लेने वाली आम जनता और मज़दूरों ने पूरे जोशो-खरोश से मोरालेस को ही वोट दिया था।

बोलिविया आज राजनीतिक दलों के वर्चस्व और “सामाजिक आंदोलनों” के वर्चस्व के सवाल पर चल रही अंतर्राष्ट्रीय बहस में उलझे दो खेमों के बीच युद्ध का मैदान बन गया है। बोलिविया के मामले में तो यह मौजूदा वैचारिक संघर्ष कई कारणों से और भी जटिल हो गया है। ऐतिहासिक रूप से कहा जाए तो यहां साम्यवाद और ट्रॉट्स्कीवाद की लंबी-चौड़ी विरासत रही है हालांकि अब उनमें से किसी का भी कोई खास वजूद नहीं है। ये दोनों धाराएं अतीत में काफी प्रभावशाली रह चुकी हैं और आज की बहसों पर उन्होंने एक अमिट छाप ज़रूर छोड़ दी है।

साम्यवादी धारा में बोलिविया और बाकी लैटिन अमेरिका में इस बात पर एक लंबी बहस चली थी कि यहां समाजवादी किस्म की क्रांति होगी या समाजवादी राज्य की स्थापना से पहले एक राष्ट्रीय-लोकतांत्रिक चरण से गुज़रना पड़ेगा और तब जाकर समाजवाद की तरफ संक्रमण किया जाएगा। ट्रॉट्स्कीवाद धारा पचास और साठ के दशकों में खासी ताकतवर थी और उसके कुछ हिमायती छोटे-छोटे समूहों में आज भी मौजूद हैं। इस परंपरा को मानने वाले विद्वान पार्टी (जिसे “नौकरशाही” संरचना में फंस चुकी माना जाता था) के मुकाबले जनसत्ता या जनता की सत्ता को अभिव्यक्त करने वाली शाखाओं पर ज़्यादा जोर देते थे। उनकी नज़र में राज्य को घेर कर उसे कुचल डालना क्रांतिकारी राज्य की स्थापना की एक बुनियादी पूर्वशर्त थी।

ये विरासतें अब खुद को विभिन्न समुच्चयों में अभिव्यक्त करने लगी हैं जबकि आज के बोलिविया में मेहनतकश जमात का सामाजिक वज़न बहुत सीमित हो चुका है और जनता का एक बहुत बड़ा हिस्सा भूमिहीन, गरीबों, आजीविका स्तरीय किसानों और विस्थापित शहरी गरीबों का है। अनौपचारिक अर्थव्यवस्था औपचारिक अर्थव्यवस्था को खतरे में डाले दे रही है।

वामपंथ की ये विरासतें राष्ट्रवाद और लोकवाद की व्यापक धाराओं से टकराती भी हैं और उनके साथ मिलकर भी चलती हैं। बोलिविया में राष्ट्रवाद न केवल अमेरिकी वर्चस्व के खिलाफ

साम्राज्यवाद विरोधी भावनाओं के रूप में अभिव्यक्त होता है, जो यहां की जनता की सबसे बड़ी विचारधारा बन चुका है, बल्कि यह राष्ट्रवाद आंतरिक स्तर पर इस आशय के सवाल भी उठाता है कि बोलिविया किस किस्म का “राष्ट्र” है और “राष्ट्रीय लोकतांत्रिक” का मतलब क्या होगा। मिसाल के तौर पर, जब मोरालेस बोलिवियाई राष्ट्र की “पुनर्स्थापना” की बात करते हैं तो अप्रत्यक्ष रूप से वह औपनिवेशिक और गणतांत्रिक, दोनों अवधियों में देसी जनता की गहन आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक वंचनाओं की बात करते हैं जिससे पता चलता है कि उनके पास “राष्ट्र” जैसी चीज़ अब तक थी ही नहीं क्योंकि जनता के एक बहुत बड़े हिस्से को कभी उसके बुनियादी अधिकार मिल ही नहीं पाए। इस वैचारिक संघर्ष में अलग-अलग धाराएं अलग अलग रूप में सामने आ रही हैं। मूल रूप से संस्कृतिवादी धारा इन पूरे हालात को बुनियादी तौर पर “इज़्जत” का मामला मानती है जबकि ज़्यादा वामपंथी मूल्यों वाली धारा आर्थिक वंचना के मुद्दे पर ज़्यादा जोर देती है। यानी एक तरफ सांस्कृतिक, भाषायी और संस्थागत नियुक्तियों का मामला है तो दूसरी तरफ प्राकृतिक संसाधनों के राष्ट्रीयकरण और भूमि वितरण का सवाल है। वामपंथी खेमे का डर यह है कि एक देशी मूल के राष्ट्रपति की जीत अमूर्त सांस्कृतिक अर्थों और संस्थागत नियुक्तियों के मामले में “इज़्जत” का सवाल तो बन जाएगी लेकिन वह संपदाओं का आमूल पुनर्वितरण नहीं कर पाएंगे जिसके बिना “इज़्जत” का भी कोई भौतिक आधार नहीं रहेगा।

1952 की क्रांति और बोलिवियाई दलगत राजनीति की जटिलताओं ने इस देश के पिछली आधी सदी के इतिहास पर गहरा असर डाला है। इन प्रभावों का विश्लेषण हम आगे के किसी लेख में करेंगे। यहां सिर्फ इतना कहना ही काफी है कि यह पूरी अवधि एक ऐतिहासिक द्वैध की साक्षी रही है। बोलिवियाई सियासत पर दबदबा रखने वाली तमाम उल्लेखनीय राजनीतिक पार्टियां जड़ हो चुकी हैं, टूट चुकी हैं और/या राह से भटक चुकी हैं जबकि बीच-बीच में, खासतौर से पिछले एक दशक के दौरान जनता ने कई बार विद्रोही तेवर अपनाए हैं। ये बगावतें या तो असंगठित रही हैं या उन्होंने अपने नेताओं के भी निर्देशों और क्षमताओं से ज़्यादा ताकत ग्रहण कर ली है। 2003 और 2005 की बगावतों का नेतृत्व किसी के हाथ में नहीं था हालांकि यूनियनों के साथ-साथ असंख्य “सामाजिक आंदोलनों” ने भी इनमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था।

इस पूरे घटनाक्रम में मोरालेस और उनके “समाजवाद की ओर आंदोलन” की भूमिका अजीब सी दिखाई देती है। जैसा कि हमें मालूम है, मोरालेस राष्ट्रीय सुर्खियों में तथाकथित “सामाजिक आंदोलन” के ज़रिए नहीं आए थे, वह एक यूनियन के संगठनकर्ता और कोका किसानों के महासंघ के नेता की हैसियत से राष्ट्रीय रंगमंच पर पहुंचे थे। 1995 में उन्होंने अपनी पार्टी बनाई और 2002 में इस पार्टी के उम्मीदवार की हैसियत से चुनाव लड़ते हुए वह राष्ट्रपति बनने के काफी करीब पहुंचे

गए थे। यही वह "पार्टी" है जिसने संसद के निचले सदन में बहुमत हासिल किया है और ऊपरी सदन में वह बहुमत के काफी नज़दीक है। प्रांतों के नौ में से तीन गवर्नर इसी पार्टी के हैं। यह कामयाबी इस तथ्य के बावजूद रही है कि निर्वाचन आयोग ने तकरीबन 10 लाख मतदाताओं (कुल आबादी 80 लाख) को अयोग्य घोषित कर दिया था। अयोग्य घोषित होने वाले मतदाताओं में ज़्यादातर इंडियन मूल के किसान थे जिनके ज़्यादातर वोट मोरालेस को मिलने वाले थे। लेकिन यहां एक भ्रम की भी बात दिखाई देती है। संवैधानिक दायरे में रहते हुए सत्ता प्राप्त करने की इच्छा रखने (और संवैधानिक शासन में बने रहने के लिए संविधान में बदलाव का आश्वासन देने) वाली राजनीतिक पार्टी के तौर पर मोरालेस की पार्टी बहुत सारे "सामाजिक आंदोलनों" का कोपभाजन और बहुत सारी अन्य ताकतों के संदेह का शिकार भी बनी है। वामपंथी पार्टियां भी उन पर गहरा संदेह व्यक्त कर रही है क्योंकि वह कई बार विश्वासघात का सामना कर चुकी हैं। दूसरी तरफ, और जैसा कि नाम से भी पता चलता है, यह एक संगठित राजनीतिक पार्टी की बजाय वास्तव में एक "आंदोलन" है। शास्त्रीय अर्थों में यह मेहनतकश जमात की पार्टी नहीं है। इस पार्टी का ढांचा शास्त्रीय समाजवाद के मुकाबले जुझारू लोकलुभावनवाद के ज़्यादा नजदीक पड़ता है।

मोरालेस के "आंदोलन" का चरित्र चित्रण करते हुए यह कहा जा सकता है कि इस आंदोलन में तीन बिल्कुल अलग-अलग, और अकसर एक दूसरे को काटने वाली प्रवृत्तियां मौजूद हैं। इस पार्टी में वामपंथ की सामाजिक विरासत; प्रतिष्ठा और आर्थिक पुनर्वितरण की देसी आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करने वाली धाराएं; और विदेशी वर्चस्व से कमोबेश आज़ाद रहते हुए राष्ट्रीय पूंजीवाद को विकसित करने की चाह; ये तीनों प्रवृत्तियां मौजूद हैं। सत्ता में आने के बाद मोरालेस संभवतः तीनों दिशाओं में एक साथ चलने की कोशिश करेंगे और जनता के लगातार दबाव और क्यूबा व वेनेजुएला के समर्थन से ही वह समाजवादी वामपंथ की दिशा में बढ़ पाएंगे। भविष्य क्या करवट लेता है अभी इस बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता।

अपनी चुनावी जीत से पहले के महीनों में बोलिविया के भीतर और बाहर, दोनों तरफ से इस बारे में संदेह व्यक्त किए जा रहे हैं कि मोरालेस जितना बोलते हैं उतना दम उनमें नहीं है। अब ये संदेह एक बार फिर ज़ोर पकड़ने लगे हैं। और इनके पीछे नए-पुराने, दोनों तरह के कुछ कारण भी हैं। अपनी जीत के बाद उन्हें न केवल फिदेल और चावेज़ से मुबारकबाद मिली बल्कि विश्व बैंक के कुख्यात अध्यक्ष पॉल वुल्फोविट्ज ने भी उन्हें बधाई संदेश भेजा। वुल्फोविट्ज ने उन्हें विश्व बैंक की तरफ से मदद का प्रस्ताव भी दिया। पेट्रोब्रास के साथ-साथ अन्य बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने भी वादा किया है कि अगर मोरालेस उनकी परिसम्पत्तियों का राष्ट्रीयकरण नहीं करते हैं

और अगर वह मौजूदा अनुबंधों में आमूल संशोधन नहीं करेंगे तो मोरालेस को उनका समर्थन मिलता रहेगा। वेनेजुएला के बाद मोरालेस स्पेन गए जहां उन्होंने उस हर्जाने का सवाल नहीं उठाया जिसकी वह बार-बार दुहाई देते रहे हैं। मोरालेस कहते रहे हैं कि औपनिवेशिक काल में बोलिविया में हुए जनसंहारों के लिए स्पेन को हर्जाना देना चाहिए। इसकी बजाय, क्यूबाई समाचार एजेंसी *प्रेंसा लेटिना* के मुताबिक : "मोरालेस ने कहा... कि स्पेन के (प्रधानमंत्री) जोज लुई रोद्रिगेज त्सापितेरो ने बोलिविया पर बकाया ज़्यादातर कर्ज़ माफ करने का वादा किया है। उन्होंने कहा कि कर्ज़ माफी से काफी राहत मिलेगी, खासतौर से शिक्षा के लिए। और साथ ही उन्होंने कहा कि त्सापितेरो ने बोलिविया को कृषि सिंचाई तकनीक के क्षेत्र में मदद का भी आश्वासन दिया है...। उन्होंने यह भी आश्वासन दिया कि वह विदेशी कंपनियों को बेदखल, ज़ब्त या कुर्क नहीं करेंगे मगर आगाह किया कि अगर उन्होंने कानून तोड़ा, कर नहीं चुकाए या किसी तरह का घोटाला किया तो उनका सख्ती से मुकाबला किया जाएगा" (सभी जगह ज़ोर हमारा)। मुख्य बात यह है कि बोलिविया के मौजूदा "कानून", जिनमें कराधान का कानून भी शामिल है, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए इतने लाभदायक हैं कि उन्हें न तो तोड़ने की ज़रूरत है न उनसे भागने की।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, भविष्य की रूपरेखा के बारे में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता और संभावना यही है कि मोरालेस तब तक परस्पर विरोधी दिशाओं में चलते रहेंगे जब तक उनके सामने निर्णायक चुनाव करने की स्थिति नहीं आ जाएगी। अनिश्चितता के इस बिंदु पर पांच चीज़ों का उल्लेख करना ज़रूरी है।

पहली, मोरालेस को संदेह का लाभ दिया जाना चाहिए। फिदेल और चावेज़ के आग उगलते चेले के तौर पर उनके बारे में प्रचार इतना ज़्यादा हो चुका है, बोलिविया की आर्थिक हालत इतनी खराब है, बाहरी दुनिया (जिनमें लूला के ब्राज़ील जैसे "दोस्त" भी शामिल हैं) पर उसकी निर्भरता इतनी हकीकी है, और संक्रमण का रास्ता इतना कठिन है कि उन्हें वाकई फूंक-फूंक कर कदम रखने होंगे। जैसा फिदेल ने एक बार कहा था : "काम मज़बूत करो, बोलो कम"।

दूसरे, जब चावेज़ ने पहली बार वेनेजुएला के राष्ट्रीय परिदृश्य पर अपनी मौजूदगी का अहसास कराया था उस वक्त वह रॉबिनहुड नुमा और परमार्थी शख्स से ज़्यादा हैसियत नहीं रखते थे। समय बीतने के साथ कदम-दर-कदम अपनी विफलताओं और आधी-अधूरी कोशिशों से सबक लेते हुए, अपने लोगों की सेवा करने की महत्वाकांक्षा को पूरा करते हुए ही वह एक क्रांतिकारी के खोल में ढले हैं; और महज़ पिछले कुछ माह में ही उन्होंने "इक्कीसवीं सदी के समाजवाद" का उल्लेख शुरू किया है और अपने भाषणों में मार्क्स, लेनिन, माओ, ट्रॉट्स्की, रोज़ा लक्ज़मबर्ग और चे गुएवारा की उक्तियों को दोहराना सीखा है। कम से कम शब्दों के स्तर पर तो

मोरालेस पहले ही वहां पहुंच चुके हैं जहां चावेज़ काफी बाद में जाकर पहुंचे थे। लेकिन इतना ज़रूर है कि अब चावेज़ जहां हैं उसके बारे में मोरालेस अभी कल्पना भी नहीं कर पा रहे होंगे।

तीसरी बात यह है कि मोरालेस कोई नौसिखिया नहीं हैं। वह अपने देश और महाद्वीप की राजनीति का एक जाना-माना नाम हैं। अगर फिदेल को यह विश्वास न होता कि मोरालेस में भी एक भावी चावेज़ छिपा हुआ है तो वह चुनावों से पहले और चुनावों के बाद कभी मोरालेस से वैसा सम्मानपूर्ण व्यवहार न करते जैसा उनके साथ किया गया है। चावेज़ के पास सेना का नेतृत्व था जबकि मोरालेस के पास एक इतने बड़े जनांदोलन का नेतृत्व है जितना बड़ा आंदोलन तो कभी अलेंदे के पास भी नहीं था। फिदेल और चावेज़, दोनों ने ही उनके साथ रचनात्मक संबंध विकसित करने का फैसला किया है, वह उन्हें सहायता और सलाह दे रहे हैं ताकि बोलिविया को सांस लेने की कुछ फुर्सत मिल जाए और वह सहयोग व समझौते के दबावों का मुकाबला करने के लिए थोड़ी-बहुत ताकत जुटा ले। इसी बीच मोरालेस कास्ट्रो द्वारा भेजे गए विमान में बैठ कर क्यूबा की यात्रा कर चुके हैं और फिलहाल चावेज़ द्वारा मुहैया कराए गए विमान में सवार होकर वह आधा दर्जन देशों के दौरे पर निकले हुए हैं। राष्ट्रपति का पदभार ग्रहण करने तक उन्हें कोई सरकारी हवाई जहाज़ नहीं मिल सकता इसलिए अभी वह अपने दोस्तों पर ही निर्भर हैं। ईरान (या फ्रांस) में वेनेजुएला के हवाई जहाज़ पर सवार होकर आए मोरालेस की यात्रा का प्रतीकात्मक महत्व अमेरिका नज़रअंदाज़ करने वाला नहीं है।

चौथे, सशस्त्र बलों पर नियंत्रण हासिल किए बिना क्रांति का कोई मतलब नहीं रहता। बोलिवियाई सशस्त्र सेनाएं अमेरिकियों से गहरे तौर पर जुड़ी हुई हैं और अमेरिकी टुकड़ियों ने मोरालेस की चुनावी जीत के बाद बोलिविया से सटे पैराग्वे के इलाके में एक लंबा अभ्यास भी कर लिया है। विश्व बैंक द्वारा दी जाने वाली सहायता का हलवा यूँ ही नहीं मिलता। इसके साथ जमालघोटे के रूप में अमेरिका द्वारा प्रशिक्षित सैनिकों की टुकड़ियां भी आती हैं। मोरालेस के सामने यह एक बड़ी चुनौती है। चावेज़ के पास सबसे बड़ी लाभ की स्थिति यह है कि वह खुद फौजी हैं। उन्हें अपने अधिकारियों और सैनिकों की निष्ठा प्राप्त है हालांकि अमेरिका में रचे गए एक तख्तापलट की साज़िश ने उन्हें तकरीबन गद्दी से उतार दिया था। पिछली गर्मियों में कराकास में इस आशय का एक किस्सा काफी चला कि जब तख्तापलट की घटना को अंजाम दिया जाने लगा और चावेज़ को अपनी स्थिति बिगड़ती दिखाई दी तो उन्होंने फोन पर फिदेल से सलाह मांगी। तब फिदेल ने उन्हें कहा : “जो चाहो करो, मगर अलेंदे वाला हथ्र मत कर लेना।” यह एक ऐसी सलाह है जिसके कई अर्थ

निकाले जा सकते हैं। इस सलाह का एक अर्थ यह है कि अगर आप शत्रु की हथियारबंद ताकत से घिर चुके हैं तो आपको क्रांतिकारी आत्महत्या का रास्ता अपनाने की बजाय जिंदा रहने का रास्ता अपनाना चाहिए ताकि आप किसी दिन फिर चढ़ाई का मंसूबा बांध सकें। मोरालेस के आलोचकों में से कम से कम कुछ तो ऐसे ज़रूर हैं जो चाहते हैं कि मोरालेस जिंदा रहकर 500 साल पुराने सत्ता संतुलनों को बदलने के लिए एक दीर्घकालिक संघर्ष में उतरने की बजाय फौरन क्रांतिकारी ढंग से आत्महत्या कर लें। लेनिन के शब्दों में फिदेल मोरालेस को “क्रांतिकारी धैर्य” का ही पाठ पढ़ाना चाहते हैं। अगर इसके बावजूद मोरालेस क्रांति को पीठ दिखा देते हैं तो फिर यही सही।

पांचवां और अंतिम बिंदु सामान्य विश्लेषणात्मक क्षमता का सवाल है। मैं 1989 से ही अपने विविध आलेखों में यह दलील देता रहा हूँ कि सोवियत संघ और मित्र देशों में समाजवाद का पतन एक ठोस ऐतिहासिक पराजय है और इससे उस तरह की क्रांतियों पर दुनिया भर में गहरा असर पड़ेगा जिस तरह की क्रांतियों के बारे में अभी हम सोचते हैं। यह पराजय हमें एक ऐसे समय में झेलनी पड़ी जब तीसरी दुनिया के बहुत सारे देशों में वर्गीय संरचना इस हद तक बदल चुकी थी कि उसे शास्त्रीय अर्थों में नहीं समझा जा सकता था। ऐसी स्थिति में भी क्रांतिकारी ताकतें खत्म नहीं होंगी लेकिन इतना ज़रूर है कि जहां कहीं उनके पास इतनी ताकत हो कि वह प्रयोग कर सकें, वहां उन्हें लंबे समय तक नए-नए प्रयोग ज़रूर करने पड़ेंगे। ऐसे प्रयोगों की एक लंबी अवधि के बाद ही हम वास्तव में यह जान पाएंगे कि इक्कीसवीं सदी की क्रांतियों का स्वरूप कैसा होगा। इन प्रयोगों में बीसवीं सदी की क्रांतियों के आलोचनात्मक मूल्यांकन का भी वही महत्व होगा जो महत्व उन्नीसवीं सदी की क्रांतियों के आलोचनात्मक मूल्यांकन का बीसवीं सदी की क्रांतियों के लिए था। अभी मोरालेस को कुछ भी साबित करने का मौका नहीं मिला है इसलिए उन्हें इस बात के लिए निंदा का पात्र बना देना ठीक बात नहीं होगी कि वह बोलशेविकों की तरह काम क्यों नहीं कर रहे हैं। उन्होंने तो कभी दावा किया भी नहीं कि वह बोलशेविक हैं या बल्कि वह मार्क्सवादी भी हैं। शास्त्रीय लेनिनवादी सांचे में ढले फिदेल का ये कहना बिल्कुल ठीक है : **अपनी मिसाल और कृत्यों से शिक्षा दो, प्रयोगों के साथ मदद करते जाओ, वामपंथी ताकतों को मज़बूत करो, और अंतर्राष्ट्रीय साम्राज्यवादी दक्षिणपंथ को जहां तक मुमकिन हो हाशिए पर रखो। आज हमारे पास जो भी, जैसी भी दुनिया है इसी के गर्भ से भविष्य की क्रांतियों को जन्म लेना है।**

अमीरखुसरो की भाषा : प्रयोग और प्रयोजन

डा. आदित्य प्रचण्डिया

अमीरखुसरो का हिन्दी साहित्य के इतिहास में महनीय स्थान है क्योंकि उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा भिन्न-भिन्न विषय प्रस्तुत कर मनोविनोद और मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत की, अपभ्रंश मिश्रित भाषा और डिंगल भाषा के स्थान पर उन्होंने सर्वप्रथम खड़ीबोली, अवधी और ब्रजभाषा का सफलतापूर्वक प्रयोग किया, एक प्रकार से जन साधारण में प्रचलित भाषा का प्रयोग किया और भाषा के क्षेत्र में अपना महत्व स्थापित किया, उनकी रचनाओं में भारतीय और इस्लामी संस्कृतियों के समन्वय का पता चलता है और उनकी रचनाओं से लोकभावनाओं का परिचय प्राप्त हो जाता है। अमीरखुसरो का हिन्दी रचनाओं में उक्ति वैचित्र्य का प्राधान्य है। उनका साहित्य केवल मनोरंजन करने वाला साहित्य है, न कि गम्भीर तत्त्वों का विवेचन और निरूपण करने वाला।¹ उन्होंने पहलियाँ, मुकरियाँ, ढकोसले, दो सखुने आदि लिखे और सरल, स्वाभाविक एवं प्रवाहपूर्ण भाषा का प्रयोग किया। अरबी, फारसी के साथ-साथ अमीरखुसरो को अपने हिन्दवी ज्ञान पर भी गर्व था, उन्होंने स्वयं कहा है —“मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ। अगर तुम वास्तव में मुझसे जानना चाहते हो तो हिन्दवी में पूछो। मैं तुम्हें अनुपम बातें बता सकूँगा।”² इन्हें ‘तूती-ए-हिन्द’ की उपाधि से भी विभूषित किया गया था।³ अमीरखुसरो की लोकप्रियता का कारण उनकी हिन्दवी की रचनाएँ ही हैं। हिन्दवी में काव्यरचना करने वालों में अमीरखुसरो का नाम सर्वप्रमुख है। भावना की दृष्टि से खुसरो का हिन्दी में रचित साहित्य भावी युगान्तर का सूचक कहा जा सकता है।

अमीरखुसरो साहित्यकार और संगीतज्ञ होने के साथ-साथ भाषाओं के सजग साधक थे।⁴ उन्होंने दरबारी वातावरण में रहकर चलती हुई बोली से हास्य की सृष्टि करते हुए जन-समुदाय को प्रसन्न करने की चेष्टा की है। मनोरंजन और रसिकता के अवतार अमीरखुसरो हिन्दी साहित्य के इतिहास की निरुपमेय निधि हैं। जनजीवन के साथ घुल-मिलकर काव्य रचना करने वाले कवियों में अमीरखुसरो विशिष्ट हैं।⁵ उर्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तानी अथवा खड़ीबोली का प्रथम रूप अमीरखुसरो की ही हिन्दी कविता में अभिदर्शित है। अमीरखुसरो ने अपनी मातृभाषा को ‘हिन्दवी’ कहा है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के प्रथम उल्लेखकर्ता अमीरखुसरो ने अपने ग्रन्थ ‘नुह सिपहर’ में अपने समय की हिन्दुस्तानी भाषाओं की सूची इस प्रकार दी है— (1) सिन्धी (2) लाहौरी (3) कश्मीरी (4) कन्नड़ (5) धुरसमुद्री (तमिल) तिलंगी (तेलुगू) गुजर (गुजराती) (8)

मावरी (घाटी) (9) गोरी (पहाड़ी) (10) बंगाली (11) अवध (अवधी) (12) दिल्ली तथा उसके आसपास-अन्दर हमाहद।⁶ अमीरखुसरो ने हिन्दुस्तान की उक्त बारह भाषाओं का उल्लेख करते हुए इन सबको ‘हिन्दवी’ वही खड़ीबोली कहा है जो उस समय मुख्यतया दिल्ली के मुसलमान तथा सामान्यतः दिल्ली वाले बोलते थे।⁷ इसी को आज ‘उर्दू-हिन्दी-हिन्दुस्तानी’ कहा जाता है।

अमीरखुसरो के समय में यह भाषा ‘अरबी लिपि’ में लिखी जाती थी। फारसी तथा उर्दू लिपि बादशाह शाहजहाँ के समय से प्रारम्भ हुई। नागरी लिपि में लिखी जाने वाली साधारण बोलियों को ब्रजभाषा के सम्बन्ध में ‘भाषा’ कहा गया है। आगे चलकर ‘भाखा’ का शब्द ‘ब्रज-अवधी-राजस्थानी’ तथा उत्तरी भारत की सभी साधारण बोलियों के समान हो गया। अमीरखुसरो की कविताएँ सामान्यतः ‘देहलवी हिन्दी’ में हैं परन्तु उनमें गीत तथा दोहे ‘भाखा’ में भी हैं। यहाँ तक कि अमीरखुसरो की रचना ‘खालिकवारी’ में भी जगह-जगह ‘भाखा’ के वाक्य आ गए हैं जबकि रचना का वास्तविक अनुलेख फारसी है तथा रचना का उद्देश्य ‘देहलवी हिन्दी’ के शब्दकोश की शिक्षा हिन्दी शब्दों को फारसी शब्दों के समक्ष रखकर उनके स्तर का अर्थ निर्धारित करना है। ‘खालिकवारी’ में ‘भाखा’ के वाक्य लाने से अमीरखुसरो का अभिप्राय शायद यह हो कि जो बच्चे अपने घर में ‘भाखा’ बोलते हैं उनके मस्तिष्क भी इस रचना के साथ जुड़ जायें। अमीरखुसरो की देहलवी हिन्दी में साधारणतः वह रूप आज भी प्रचलित है—

बाला था तब सबको भाया

बड़ा हुआ कुछ काम न आया

देहलवी हिन्दी के साथ अमीरखुसरो की रचना में ‘भाखा’ की अधिकता देखकर यह प्रतीत होता है कि उत्तरी हिन्दुस्तान की कई सामान्य बोलियाँ देहलवी हिन्दी के साथ-साथ दिल्ली में उपलब्ध थीं परन्तु तत्समय की दिल्ली की मिली-जुली तथा प्रसिद्ध भाषा ‘देहलवी हिन्दी’ ही थी। अनेक सदियों तक हिन्दुस्तान के विभिन्न भागों की जनता के परिवर्तनों के कारण अमीरखुसरो की हिन्दी रचना उनके समय की भाषा का स्पष्ट रूप सामने प्रस्तुत तो नहीं कर सकती परन्तु उपलब्ध हिन्दी भण्डार से उनकी देहलवी हिन्दी का एक अनुमान्य रूप हमारे मन-मानस में अंकित हो जाता है, फिर अवधी, हरियाणी तथा पंजाबी का प्रभाव परिलक्षित है। तत्पश्चात् राजधानी में अपने वाली प्राप्य-अप्राप्य बोलियों के शब्द मिलते हैं। विदेशी भाषाओं

में अरबी-फारसी तथा किसी सीमा तक तुर्की 'देहलवी हिन्दी' की सहायक है। जब अमीरखुसरो हिन्दू नारियों की भाषा में कुछ कहते हैं तो उनकी कविताओं में 'ब्रजभाषा' अधिक दिखाई देती है। सम्भव है कि उस समय दिल्ली तथा उसके आस-पास की हिन्दू नारियाँ ब्रजभाषा अथवा उससे मिलती-जुलती अन्य भाषा बोलती रही हों और फारसी से प्रभावित 'खड़ीबोली' हिन्दू घरों से बाहर बोली जाती रही हो।

अमीरखुसरो का समय उत्तरी हिन्दुस्तान के भाषायी इतिहास में विशेष महत्व का है। खड़ीबोली के पहले कवि अमीरखुसरो हैं। दक्षिणी खड़ीबोली के पहले गद्य लेखक ख्वाजा बन्दानवाज 'गोसूदराज' हैं और उत्तरी हिन्दुस्तान की खड़ीबोली के पहले उर्दू गद्य लेखक उस्ताद इशा अल्लाह खाँ 'इशा' हैं। इस भाषा की संरक्षा अधिकतर मुसलमान लेखक करते रहे। खड़ीबोली के जन्म से ही इसकी लिपि फारसी थी। पहले यह अरबी लिपि में लिखी जाती थी। शाहजहाँ के समय से फारसी तथा उर्दू लिपि प्रचलित हुई और यही इस भाषा की लिपि बन गई। 'खड़ीबोली' कतिपय राजनैतिक भेदों के कारण डेढ़ सौ वर्ष पहले नागरी लिपि में लिखी गई और तब से ही इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ तथा उत्तरोत्तर इसका वर्द्धन होता गया। खड़ीबोली में केवल फारसी शब्द ही नहीं आये हैं वरन् इस बोली की शैली भी फारसी 'तुम' (Tum), 'खिदमत' (Khid-mat), 'तदवीर' (Tadbeer) तथा 'गीत' (Geet) इत्यादि। तुर्की और फारसी बोलने वालों का जिन मार्गों से भारत में पदार्पण हुआ उनकी हर मंजिल 'खड़ीबोली' की प्रगति का एक सोपान बना। 'खड़ीबोली' में दिल्ली की राजधानी में आने वाली बीसों बोलियों की धाराएँ तत्समरूप तथा तदभव शब्दों के साथ मिल रहीं थीं। ब्रजभाषी तथा पूर्वी आदि दिल्ली की इस भाषा को बिल्कुल 'दोगली' भाषा समझते होंगे, परन्तु नई-नई भाषाओं के स्त्रोत इस नव उत्पन्न भाषा को बहुत बल दे रहे थे और यह भारत की प्रत्येक भाषा से अधिक प्रगति कर रही थी। इसी भाषा को 'देहलवी बोली' कहा गया। अमीरखुसरो इसी भाषा को 'देहलवी हिन्दी' कहते थे।

अमीरखुसरो ने खड़ीबोली और अवधी का प्रयोग किया है यों बीच-बीच में भी ब्रज के भी कुछ रूप जैसे-सोवै, डारै, मेरो, भयो आदि हैं किन्तु इसका कारण यह है कि उस काल में हिन्दी की ये बोलियाँ पूर्णतः अलग-अलग नहीं थीं, उनमें एक दूसरे का काफ़ी मिश्रण था। मिश्रण के बावजूद यह बहुत स्पष्ट है कि पहेलियों, मुकरियों तथा दो-सखुनों की भाषा खड़ी-बोली है। 'खालिकवारी' में भी हिन्दी के जो रूप हैं, उनमें आंशिक खड़ीबोली के ही हैं, जैसे-कहिए, तू जान, रहिया (रहा का पुराना रूप), बैठरी तथा रात जो गई आदि। इसके विपरीत गीतों, कव्वालियों तथा दोहों की भाषा का मूलाधार अवधी या पूर्वी है यथा-

खड़ी बोली : एक थाल मोती से भरा

सबके सिर पर औंधा धरा
चारों ओर वह थाली फिरे
मोती उसमें एक न गिरे।

पूर्वी अवधी : छापा तिलक सब छीनी रे मोसे नैना मिलायके
प्रेमभटी का मदवा पिलायके

मतवारी कर दीन्हीं रे मोसे नैना मिलायके।

'खालिकवारी' की भाषा भी प्राचीन खड़ीबोली है, यद्यपि उसमें ब्रजभाषा का भी छौंक है और कहीं-कहीं 'तोर' जैसे पूर्वी रूप भी हैं। उसमें आए 'कहिया', 'रहिया', आदि रूप प्राचीन खड़ीबोली के हैं। इन्हीं रूपों का विकास आज कहा, रहा आदि रूपों में हुआ है-

कहिया कहया कहा

रहिया रहया रहा

खुसरो की अधिकांश हिन्दी रचनाएँ कई सौ वर्षों तक मौखिक परम्परा में ही रही हैं, अतः हर सदी ने अपनी सुविधानुसार उसकी भाषिक संरचना में परिवर्तन किए हैं। ऐसी स्थिति में यह तो कहा जा सकता है कि इन रचनाओं का कथ्य खुसरो का है लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि इन रचनाओं की भाषा खुसरो की है।^१ उनके समय तक हिन्दी के इतने अधिक अननगढ़ हो जाने की बिल्कुल सम्भावना नहीं है। हर सदी ने उसे अपने अनुकूल परिवर्तित करते-करते यह रूप दे दिया है।^१

अमीरखुसरो जिस भाषा में वार्ता करते होंगे उसका उदाहरण उनका निम्न ढकोसला है :

खीर पकाया जतन से, चर्खा दिया चला

कुत्ता आया खा गया, तू बैठी ढोल बजा

अमीरखुसरो के दोहे उस भाषा में हैं जो उनकी मातृभाषा तो नहीं है परन्तु उनके चारों तरफ बोली जाती थी।

अमीरखुसरो गीतों में कहीं मुसलमान दुल्हन की भाषा में मल्हार गाते हैं :

अम्माँ मेरे बाबा को भेजो जी-कि सावन आया

कहीं विष्णुभाव के गीतों में वह हिन्दू नारियों की बोली अलापते हैं जिसको 'भाखा' ही कहा जाएगा-

चुरियाँ फोरूँ - पलंग पर डारूँ

पहेलियों में अमीरखुसरो शिशुओं - बालकों की रुचिकर भाषा तक पहुँच जाते हैं। 'भुट्टे' की पहेली देखिए-

आगे आगे भेना आयी, पीछे-पीछे भैया

दाँत निकाले बाबा आये, बुर्का ओढ़े भैया

विषयानुसार अमीरखुसरो की पहेलियों की भाषा भी परिवर्तित होती रहती है। अमीरखुसरो की प्रसिद्ध गज़ल 'ज हाले मिस्की' फ़ारसी तथा 'भाखा' के मिश्रित अलंकारादि में रची गई है, जो शुद्ध 'देहलवी हिन्दी' नहीं है। ठेठ फारसी तथा शुद्ध 'भाखा' के वाक्यों का मिश्रण देखिए-

ज हाले मिस्कीं मकुन तगाफुल

दुर आय नैनाँ बनाय बतियाँ

कि ताबे हिज्जाँ नदारम् ऐ दिल

न ली हो फाहे लगाय छतियाँ

तत्समय की सबसे जानदार भाषा 'देहलवी हिन्दी' अथवा

‘खड़ीबोली’ थी जो धीरे-धीरे नगरों की सभ्य संस्कृति पर अपना अधिकार जमा चुकी थी। अमीरखुसरो ने अपने विचारों से इस भाषा को सजाने-सँवारने का पूर्ण प्रयास किया। परन्तु फ़ारसी के सामने इस भाषा को साहित्यिक प्रतिष्ठा न मिल सकी। यह सत्य है कि खड़ीबोली उत्तरी भारत में सभ्य से सभ्य होती जा रही थी जबकि अमीरखुसरो के बाद कई सौ वर्षों तक खड़ीबोली का कोई उल्लेखनीय कवि नहीं हुआ।

अमीरखुसरो उस समय के काव्यकार हैं, जब हिन्दुस्तान में एक नई भाषा जन्म ले रही थी। उस भाषा के भविष्य पर अमीरखुसरो का पूर्ण विश्वास था और वह उस नव साहित्य की बड़े प्रेम से सेवा कर रहे थे। **उनकी हिन्दी कविता में एक तरफ चिन्तन एवं माधुर्यगान है तो दूसरी तरफ इसमें भाषा के नवनिर्माण का एक महान आन्दोलन भी चल रहा है। अमीरखुसरो का प्रत्येक प्रयास यह रहा है कि फ़ारसी तथा हिन्दी शब्द पानी तथा दूध की भाँति घुल-मिल जाएँ ताकि भविष्य की हिन्दी भाषा के लिए**

प्रगति का मार्ग तैयार हो सके। अमीरखुसरो की हिन्दी कविताओं में उनकी यह उचित चेष्टा अन्य कविताओं की तुलना में अधिक स्पष्ट है। उनकी पहेलियाँ आदि कविता के आनन्द के साथ-साथ शब्दकोश शिक्षा के पाठ हैं। कहीं-कहीं फ़ारसी कविता में भी वह अपनी मातृभाषा हिन्दी के शब्द तथा मुहावरे बड़ी विशेषता के साथ लिख देते हैं। उनका अभिप्राय बिल्कुल यही है कि इन दोनों भाषाओं को निकट से निकट लाया जाए। हिन्दी की ही भाँति फ़ारसी में शब्दों की आन्तरिक एवं बाह्य जाँच-पड़ताल अमीरखुसरो का रुचिकर कार्य था। अमीरखुसरो अरबी, फ़ारसी, तुर्की तथा संस्कृत के ज्ञाता थे तथा इन भाषाओं के शब्दों पर उन्हें पूर्णधिकार प्राप्त था। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तान की कतिपय प्रान्तीय भाषाएँ भी वह जानते थे। समग्रतः अमीरखुसरो की हिन्दी कविता काव्य की दृष्टि से भले ही उसमें उत्कृष्टता न हो, सांस्कृतिक और भाषा वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उसका मूल्य अक्षुण्ण है।

यूपीए सरकार द्वारा महंगाई पर आम आदमी को गुमराह करने की कोशिश

मौजूदा समय में उपभोक्ता वस्तुओं की कीमतें आसमान छू रही हैं और सोने-चाँदी की कीमतें भी तेज़ी के रिकार्ड बना रही हैं। लेकिन मुद्रास्फीति की दर यूपीए सरकार के शासनकाल में 5 प्रतिशत से घटकर 4 प्रतिशत पर आ गई है। यह तकनीकी आंकड़ों का मायाजाल है, जिसका भरपूर फायदा यूपीए सरकार उठा रही है।

मुद्रास्फीति की दर मतलब मुद्रा की क्रय शक्ति का उतार या चढ़ाव। उदाहरण के तौर पर कहा जा सकता है कि एक रुपये में जितनी ज़्यादा वस्तुओं की खरीदारी होगी, मुद्रास्फीति की दर घटेगी। जितनी कम खरीदारी होगी, मुद्रास्फीति की दर बढ़ेगी। वस्तुओं की कीमतें बढ़ने का सीधा मतलब है कि खरीदारी का कम होना, इससे मुद्रास्फीति की दर बढ़ेगी। पर आज सब उलटा हो रहा है। महंगाई बढ़ रही है, मगर मुद्रास्फीति की दर को कम होता हुआ दिखाया जा रहा है। ऐसा यूपीए सरकार इसलिए कर पा रही है, क्योंकि मुद्रास्फीति का आधार वस्तुओं के खुदरा भाव नहीं बल्कि उसके थोक

भाव होते हैं। वे भाव जिसपर सीधे किसानों से उत्पाद खरीदे जाते हैं। इंस्टीट्यूट आफ अप्लाइड इकॉनामिक रिसर्च, नई दिल्ली के सर्वे में कहा गया है कि बाज़ार में माल लाने और बेचने की जो व्यवस्था है, उसमें किसान व उपभोक्ता दोनों को ही ज़बरदस्त नुकसान हो रहा है। मज़े तो बीच के व्यापारी उठा रहे हैं।

सर्वे के अनुसार अगर खुदरा बाज़ार में कोई वस्तु 10 रुपये प्रति किलोग्राम के हिसाब से बिकती है तो यह मानकर चलना चाहिए कि किसानों से यह मात्र 2 या 2.50 रुपये प्रतिकिलो की दर से खरीदी गई है। कर, ढुलाई, खर्च और बिचौलिये के कमीशन के कारण यह वस्तु आम उपभोक्ता के पास दस रुपये में पहुंचती है। इस व्यवस्था को सरकार इसलिए नहीं बदलती, क्योंकि उससे दो फायदे होते हैं। एक तो उसे भरपूर कर मिलता है और दूसरा थोक मूल्य पर आधारित मुद्रास्फीति की दर को भी नियंत्रित दिखाने में उसे आसानी होती है।

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी
फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,
62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका
नई दिल्ली-110067
टेलीफोन : 011-26177904
ईमेल : notowar@rediffmail.com

केवल सीमित वितरण के लिए